वेदोक्तत्वादेवागच्छेत् । अतस्तेनादौ नियोगस्य वेदोक्तत्वं निराकृत्य वेनराज्यशासनरूपः प्रवृत्तिसमयः प्रदर्शितः । अतो मेधातिथेरुद्वाहिकशब्दस्यार्थान्तरकल्पना न सत्या नियोगश्च पूर्वोक्तप्रकारेण मेधातिथ्यादिसम्मत्या च वेदोक्त इति कृत्वा तत्पूर्वोक्तं पद्यचतुष्टयं प्रक्षिप्तम् ॥

अग्रेऽष्टाविंशं शतमेकोनविंशं शतं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तम् । अत्रासङ्गतपुराणाभासनिर्मातृभिः पौराणिककथापुष्ट्यर्थः परकृतिरूपोऽर्थवादः पद्यद्वयेन वर्णितः । पुराणेषु च सर्वस्य जगत उत्पत्तिः कश्यपजायासु त्रयोदशस्वेव प्रदर्शिता सा च यदा मनुसिद्धान्तादेव विरुद्धा पुनर्मानवधर्मशास्त्रे पश्चाज्जायमानायाः पौराणिककथायाः कथमनुकूलः प्रवेशः स्यात्। अतः प्रक्षिप्तं तत्पद्यद्वयम्। अग्रे त्रयोदशोत्तरत्रिशततमपद्यादारभ्योनविंशावधि षट् पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति । द्वादश पद्ये यद्विधिवाक्यं तस्यैवायं पद्यषट्केऽर्थवादः प्रदर्शितः स च नास्ति साधुः। कैश्चिद्राजकर्मणि प्रवृत्तैः स्वकुलहितेप्सुभिः साक्षरब्राह्मणैरिमानि पद्यानि पक्षपातेन धृतानीत्यनुमीयते । अत्रापि पौराणिकी कथा असम्भवा एव दर्शिताः। अग्नेः सर्वभक्ष्यत्वकरणमित्यादिकं सर्वमसम्भवम् । सर्गारम्भे परमात्मना यादृशो यः पदार्थो रचितः स तादृग्गुणोऽस्ति । समुद्रस्यापेयत्वं पृथिवीगुणकृतम् । अन्यत्राप्यनेककूपेष्वपेयं क्षारतरमुदकं निस्सरति तस्यापेयत्वं किंकृतमिति स एव पौराणिकः प्रष्टव्यः । एवमन्यदप्यसम्भवम्। यत्र वह्नौ निकृष्टं वस्तु प्रज्वाल्य तेनैव यदि कश्चिद्रोटिकादिभक्ष्यं पचेत्तदा वह्निसंसर्गागतेन दोषेण भक्ष्यमपि दुष्यति । अतएव श्मशानवह्निना पाको न कार्य इति शिष्टसम्मतम्। यदि

पावको न दुष्येत्तदा तेनापि पाकः कर्त्तव्यः स्यात् । यदि पापिष्ठा मूर्खाः सर्वगुणकर्मविहीना ब्राह्मणकुलजा ब्राह्मणब्रुवा अपि विद्वद्वत्पूज्या भवेयुस्तर्हि श्राद्धप्रकरणे येऽपाङ्क्तेयाः परिगणितास्तेषामपि सत्कारेऽपरिगणनं व्यर्थं स्यात् । तथा–

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

यथा काष्ठमयो हस्तीत्यादिनापि गुणकर्मविहीनस्य ब्राह्मणस्य निष्फलत्वं प्रदर्शितम् । यदि सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः स्युस्तदा पूर्वोक्तानि वचांसि व्याहन्येरंस्तस्मात्प्रक्षिप्तानि षट् पद्यानि । एवमस्मिन्नवमेऽध्याये चतुर्दश श्लोकाः प्रक्षिप्ताः शिष्टा द्वाविंशोत्तरास्त्रिशतश्लोकाः शुद्धाः सन्तीति प्रतिभाति ॥

भाषार्थः—अब नवएं अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है । पहिले तेईश और चौवीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । बाईशवें श्लोक में सिद्धानुवाद की रीति से लिखा है कि पति के अच्छे बुरे गुणों की अधिकता से उस पति के साथ विवाही गयी स्त्री में भी वैसे ही अच्छे बुरे गुणों की अधिकता होनी सम्भव है अर्थात् धर्मात्मा सुपात्र सुशील पुरुष के साथ विवाही गयी स्त्री भी पुरुष के तुल्य शुभगुणों वाली हो जाती और अधर्मी आदि दुष्ट गुण वाले के साथ विवाही स्त्री भी पापिनी हो जाती है इस सिद्धानुवाद का प्रयोजन यह है कि धर्मात्मा विद्वान् और सुशील पुरुष को कन्या देनी चाहिये । सो "उत्तम मध्यम वा निकृष्ट गुण प्रायः संगति के अनुसार मनुष्य में आते हैं"। इसी संगति से होने वाले फल का व्याख्यानरूप यह कथन है [इस में कोई शङ्का करे कि सङ्गति दोनों की दोनों से होती है जैसे पुरुष के साथ स्त्री का सङ्ग होता वैसे स्त्री के साथ पुरुष का भी सङ्ग रहता है जब स्त्री पुरुष के समान

गुण वाली हो जाती है तो पुरुष स्त्री के तुल्य गुणों वाला क्यों नहीं होता ? । इस का उत्तर यह है कि मुख्य का वा स्वाधीन का गुण गौण वा पराधीन में लग जाता है और प्रायः पुरुष ही मुख्य रहता है । यदि कहीं स्त्री को स्वाधीनता और प्रधानता हो तो वहां स्त्री के गुण पुरुष में अवश्य आवेंगे] इसी सङ्गति का फल दिखाने के लिये दो उदाहरण उक्त दोनों पद्य में कहे हैं । सो वहां उदाहरण की अधिक अपेक्षा ही नहीं दीखती और किसी प्रकार कुछ अपेक्षा हो भी तो वैसी आधुनिक स्त्रियों का उस से बहुत प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में वर्णन कैसे घटे अर्थात् किसी प्रकार नहीं क्योंकि पिता के जन्म समय में आगे होने वाले पुत्र के कर्मों का वर्णन कोई नहीं कर सकता । जब वसिष्ठ ने अक्षमालानामक मेहतरानी के साथ और मन्दपालनामक ऋषि ने शारङ्गी नाम चिड़िया के साथ विवाह किया उस से पहिले ही भृगु ने इस धर्मशास्त्र का निर्माण वा प्रचार किया था । क्योंकि अक्षमाला को कोई भाष्यकारों ने भी भंगिन् कहा है । ऐसी नीच स्त्रियों के साथ ब्राह्मणादि का विवाह होकर यदि वे स्त्रियां ब्राह्मणादि उत्तम वर्णस्थ हो जावें तो जो शूद्रा वा अन्त्यज के साथ विवाह करने से धर्मशास्त्रकारों ने बहुत बुरा फल दिखाया है कि "ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य लोग यदि कामी वा अज्ञानी हो कर नीच वा अतिनीच जाति की स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं तो उन के बाल बच्चों सहित सब कुल शूद्र वा नीच हो जाता है । तथा अत्रि और औतथ्य ऋषि का मत (राय) है कि शूद्रा के साथ विवाह करने से वेदी पर ही पतित हो जाते, शौनक का मत है कि शूद्रा में सन्तान होने पर पतित होते और भृगु के मत से सन्तान के सन्तान हो जाने पर पतित हो जाते हैं" इत्यादि कथन में विरोध आवेगा । अर्थात् यदि चर्मकारी आदि नीच स्त्रियां ब्राह्मणादि के साथ विवाही जाने से उत्तम हो सकती हैं ऐसा धर्मशास्त्र का सिद्धान्त होता तो शूद्रा के साथ विवाह करने में पूर्वोक्त प्रकार दोष नहीं दिखाते । यदि कोई कहे कि समर्थ को दोष नहीं लगता इस लिये वैसे तपस्वी के लिये शूद्रा के साथ विवाह का निषेध नहीं किन्तु सर्वसाधारण को है तो इस का उत्तर यह है कि असमर्थ वा साधारण के लिये भी शूद्रा के साथ विवाह का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि असमर्थ तो स्वयमेव निकृष्ट ही हैं उन की शूद्रा के साथ विवाह से भी विशेष हानि नहीं किन्तु बड़े वा प्रतिष्ठितों की ही विशेष हानि है । इस से यह सिद्ध हुआ कि सङ्गति से होने वाले गुण दोष वर्ण वा जाति का भेद वा लौट

पौट नहीं कर सकते किन्तु एक जाति वा वर्ण में जो स्त्री पति की अपेक्षा विद्यादि उत्तम गुणों में न्यून है वह विद्या शिक्षादि उत्तम गुणों वाली शान्तिशील हो सकती है। और वेदादि धर्मशास्त्र जानने वाला तपस्वी वसिष्ठ के तुल्य विद्वान् पुरुष चाण्डाली के साथ विवाह करे यह कोई बुद्धिमान् विश्वास नहीं करेगा। और मन्दपाल ऋषि ने किसी शारङ्गी नामक चिड़िया के साथ विवाह किया यह भी ठीक नहीं। विवाह करने का जो फल वा प्रयोजन है वह चिड़िया से कैसे सिद्ध हुआ वा कोई कैसे सिद्ध कर सकता है? यह बात उसी श्लोक को बना कर मिलाने वाले से विचारशीलों को पूछना चाहिये। यहां अधिक लिखना व्यर्थ है। उक्त प्रकार के अनेक दोष होने से पूर्वोक्त दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं॥

आगे ६५-६८ पैंसठ से अरसठ तक चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यदि कोई बीच के चारों पद्यों को छोड़ कर ६४ से आगे ६९ के पद्य को पढ़े वा सङ्गति मिलाना चाहे तो ठीक मेल मिल जाता है किसी प्रकार का प्रकरण विरोध नहीं है और उन श्लोकों के बीच में रखने न रखने से एक ही सी सङ्गति मिल जाती है इस कारण वे श्लोक प्रक्षिप्त जानने चाहिये। यदि प्रारम्भ से रच कर रक्खे श्लोक बीच से निकाल दिये जावें तो जैसे माला के बीच से एक दो मूंगा निकाल देने से उन की सङ्गति (सिलसिलारूप एक दूसरे के साथ मिलावट) विगड़ जाती उन में बीच पड़ जाता है वैसे यहां भी सङ्गति बिगड़ जानी चाहिये थी पर ऐसा नहीं होता इस लिये वे चारो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन नियोग का खण्डन करने वाले चार श्लोकों पर सर्वज्ञनारायण भाष्यकार ने लिखा है कि "इस उक्त प्रकार से अन्य ऋषियों के मतानुसार नियोग का विधान करके मनु जी अपने मतानुसार खण्डन करते हैं" सो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब पहिले प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि " अब आगे स्त्रियों को आपत्काल में वर्त्तने योग्य धर्म कहेंगे" इस से स्पष्ट मनु जी का सिद्धान्त आपत्काल में निर्वाह करने के लिये आता है और वह सिद्धान्त वेद के भी सर्वथा अनुकूल है। वेद में नियोग करने के लिये स्पष्ट ही आज्ञा दी गयी है। जैसे (उदीर्ष्व०) ऋग्वेद के इस दूसरे पति की आज्ञा देने वाले मन्त्र में अर्थ का भी विवाद नहीं है। अर्थः—हे (नारि) स्त्रि! तू (गतासुम् एतम्, उपशेषे) इस मरे हुए पति के समीप शोक में मग्न पड़ी है उस को छोड़ कर (अभिजीवलोकम्) जीते हुए प्राणियों के समूह को देख कर (उदीर्ष्व) उठ अर्थात् जीते हुए बाल बच्चों आदि की रक्षा का उपाय कर। और

उठ के अर्थात् सचेत होके (एहि) दूसरी ओर को आ (तव,हस्तग्राभस्य,दिधिषोः, पत्युः) तेरे हाथ को ग्रहण करने वाले द्वितीय पति के (इदम्, जनित्वम्, अभिसम्बभूथ) इस स्त्रीपनरूप सम्बन्ध को सब ओर से प्राप्त हो। इस मन्त्र का यही अर्थ सायणादि भाष्यकारों ने भी माना वा लिखा है। और मेधातिथि नामक मनु के भाष्यकार ने भी लिखा है कि (को वा०) इत्यादि नियोग विधायक मन्त्र भी वेदों में दीखते हैं। और उद्वाहिक शब्द से वेदी पर पढ़े जाने वाले (गृभ्णामि ते०) इत्यादि मन्त्र लिये जाते हैं यह मेधातिथि का अभिप्राय है। सो यह विचार ठीक ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि जब वेद में नियोग का कर्त्तव्य होना लिखा है फिर नियोग की निन्दा करने वाले वेदविरोधी स्पष्ट ही सिद्ध हो गये। इस पर अधिक विचार की कुछ आवश्यकता नहीं। (नोद्वाहिकेषु०) इत्यादि चार श्लोकों को सत्य ठहराने के लिये जो मेधातिथि आदि की कल्पना हैं वे सर्वथा निर्बल हैं। विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में नियोग नहीं कहा इस से बुरा है यह कथन ऐसा होगा कि जैसे कोई कह दे कि अग्निहोत्रविधायक मन्त्रों में नहीं कहा इस लिये वैश्वदेव करना बुरा है। अरे भाई ! विवाह द्वितीयप्रकरण है उस में आपत्काल का नियोग क्यों कहा जाता ?। भिन्न प्रकरण में प्रमाण न देने से कोई विषय बुरा नहीं हो सकता। कदाचित् वेद में नियोग स्पष्ट रूप से न कहा होता किन्तु ध्वनिमात्र निकलने पर भी प्रमाण माना जा सकता है और वेद से विरुद्ध होता अर्थात् वेद में नियोग का निषेध किया होता तो अवश्य खण्डनीय कह सकते थे। राजा वेन के समय से नियोग की प्रवृत्ति दिखाने से नियोग का निषेध करने वाले का तात्पर्य यह है कि नियोग करने की आज्ञा वेद में नहीं है। क्योंकि नियोग वेदोक्त हो तो उस का प्राचीन वा सनातन होना वेदोक्त होने से ही आ जावेगा। क्योंकि जब वेद सनातन हैं तो उस में कहा विषय भी सनातन हुआ। इसी लिये निषेधक ने पहिले नियोग का वेदोक्त होना खण्डित करके वेन के राज्य से उस के चलने का समय दिखा कर नियोग को आधुनिक ठहराया है। इत्यादि कारण मेधातिथि की उद्वाहिक शब्द के अर्थ पर कल्पना करना ठीक नहीं और पूर्वोक्त प्रकार से तथा मेधातिथि आदि की सम्मति से नियोग वेदोक्त है ऐसा सिद्ध हो जाने से पूर्वोक्त चारों श्लोक प्रक्षिप्त हैं॥

आगे १२८। १२९ एकसौ अट्ठाइस और एकसौ उन्तीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन में असंगत पुराणाभासों के बनाने वाले लोगों ने पौराणिक कथाओं की पुष्टि के लिये परकृतिनामक अर्थवाद दो पद्यों से कहा है। और पुराणों में सब जगत् की उत्पत्ति कश्यप की तेरह स्त्रियों से ही दिखायी है। सो जब मनु के सिद्धान्त से ही विरुद्ध है फिर पीछे उत्पन्न हुई पौराणिक कथा का प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में अनुकूल मेल कैसे हो सकता है ?। इस लिये वे दोनों श्लोक प्रक्षिप्त ही जानो। आगे ३१४—३१९ तीन सौ चौदह से तीन सौ उन्नीश तक छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तीनसौ तेरहवें श्लोक में जो विधिवाक्य है कि राजा ब्राह्मणों को कोपित न करे अर्थात् अधिक न सतावे इस का अर्थवाद जो ठीक २ होना चाहिये सो उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में है। और उसी विधिवाक्य का इन छः श्लोकों में भी अर्थवाद दिखाया है सो ठीक नहीं है। अनुमान होता है कि अपने कुल का हित चाहने वाले संस्कृतज्ञ राजमन्त्री आदि ब्राह्मणों ने पक्षपात से ये श्लोक यहां मिला दिये हैं कि जिस से हमारे कुल के मूर्ख दुष्कर्मी ब्राह्मणों को भी कोई दण्ड न देवे किन्तु सदा दानादि से सन्मान करते रहें। इन छः श्लोकों में भी असम्भव पुराणों की कथा दिखायी हैं। ब्राह्मणों ने अग्नि को सर्वभक्ष्य बनाया इत्यादि। क्या परमेश्वर के रचे अग्नि में सब वस्तु नहीं जल-सकते थे तो ? पहिले की शक्ति गिना देनी चाहिये कि अमुक २ पदार्थों को पहिले अग्नि जला सकता था पीछे सब जलाने की शक्ति ब्राह्मणों ने की इत्यादि सब असम्भव है। सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने जो पदार्थ जैसे गुण वाला रचा है उस में वही गुण सदा रहेगा उस को कोई लौट पौट नहीं कर सकता। समुद्र का जल खारी होने से पिया नहीं जाता यह पृथिवी का गुण है। अन्यत्र भी अनेक कुओं में अत्यन्त खारी जल निकलता है वह पीने योग्य नहीं रहा सो ऐसा किस ब्राह्मण ने किया ? यह उसी पौराणिक से पूछना चाहिये। इसी प्रकार अन्य भी अनेक बातें असम्भव हैं जिस अग्नि में विष्ठा मांसादि निकृष्ट वस्तु जलाया हो उसी अग्नि से यदि कोई रोटी आदि पदार्थ को पकावे तो अग्नि के साथ आये दोष से भक्ष्य भी दूषित हो जाता है। इसी कारण मरघट के अग्नि से पाक न बनाना चाहिये यह शिष्टों की सम्मति है। यदि अग्नि में दोष न होता तो उस श्मशान के अग्नि से भी भोजन बनाना उचित समझा जाता। यदि मूर्ख पापी सब अच्छे गुणकर्मों से रहित ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए नाममात्र

के ब्राह्मण भी विद्वानों के तुल्य पूज्य हो जावें तो श्राद्धप्रकरण में जो श्रेष्ठों की पङ्क्ति में न बैठाने योग्य नीच ब्राह्मण गिनाये हैं जिन को श्राद्ध में भोजन न कराना चाहिये उन का परिगणन भी व्यर्थ हो जावे । तथा " मूषा पकड़ने को जैसे बिल्ली ध्यान लगाती वा जैसे मच्छी पकड़ने को बगुला ध्यान लगाता वैसे जो दूसरों के पदार्थ हर लेने के लिये ध्यान लगा के बैठते हैं अवसर पाते ही झट ले लेते हैं और तीसरे वेद को न जानने वा पढ़ने वाले इन तीन प्रकार के ब्राह्मणों का जल से भी सत्कार न करे ॥ धर्मपूर्वक परिश्रम से सञ्चित किया भी धन यदि उक्त तीन प्रकार के ब्राह्मणों को दिया जावे तो उस दान से दाता को वर्त्तमान जन्म में और दान लेने वाले को जन्मान्तर में दुःखरूप फल होता है । और जैसे काष्ठ का हाथी नाम ही मात्र होता हाथी का काम कुछ नहीं दे सकता वैसे ही गुण कर्म वा विद्या से हीन ब्राह्मण को निष्फल जानो इत्यादि" यदि सर्वथा ब्राह्मण पूज्य हों तो पूर्वोक्त वचन सब विरुद्ध पड़ेंगे अर्थात् ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं किन्तु एक ही सत्य हो सकती है इस से उक्त छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इस प्रकार इस नवम अध्याय में १४ चौदह श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष ३२२ तीनसौ बाईश श्लोक शुद्ध प्रतीत होते हैं ॥

अथ ब्राह्मणादिवर्णविचारः ॥

किं ब्राह्मणादयो वर्णा विद्यादिगुणकर्मविभागमात्रेण मन्तव्या आहोस्विज्जन्मत एवेत्यस्मिन् विषये मानवधर्मशास्त्रस्य कः सिद्धान्त इति विचारः क्रियते । उभयथा विद्यादिगुणैः कर्मणा जन्मना च ब्राह्मणादीनां पूर्णं ब्राह्मणादित्वं सिध्यतीति मानवधर्मशास्त्रस्यान्यशास्त्रकाराणां च सिद्धान्तः । तथाहि—गुणकर्मभिर्ब्राह्मणादित्वमभ्युपगम्येदमुच्यते—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ इति मनुः ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
सत्यं दानं क्षमा शौचमानृशंस्यं तपो घृणा।
विद्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ इति महाभारते।

जन्मनापि ब्राह्मणादिवर्णत्वमभ्युपगम्य बीजक्षेत्रयोः प्रधानाऽप्रधानपक्षौ व्याख्यातौ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। एतदपि नामकरणावसरे कथनं जन्मना ब्राह्मणादित्वे सत्येव सम्भवति। तत्रायं विशिष्टोऽनुसन्धेयो विचारः। तथा च व्याकरण महाभाष्यकारेणाप्युक्तम्—

विद्या तपश्च योनिश्च एतद्ब्राह्मणलक्षणम्।
विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥

अत्र योऽसौजातिब्राह्मणपदवाच्यः स एव मनुना ब्राह्मणब्रुवशब्देन यथा काष्ठमयोहस्तीत्यादिना च निस्सत्त्वो निष्फलः सूचितः। वस्तुतस्तु सत्येव तस्मिंस्तस्मिन् गुणे स स शब्दस्तस्य तस्य वाच्यवस्तुनो वाचकः सम्भवति। यथा गन्धवती पृथिवी रूपदाहवत्तेजः। नहि गन्धवत्त्वमन्तरा रूपदाहादिगुणाभ्यां च विना पृथिवीत्वं तेजस्त्वं वाकथमपि वक्तुं शक्यते। अतएव महाभाष्यकारेणाप्युक्तम्—"यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलादयः" एवं ब्राह्मणादिपदवाच्येषु ब्राह्मणादित्वे गुणे सत्येव ब्राह्मणादयः शब्दा वाचकत्वेन स्थितिसम्बन्धमुपलभन्ते। नहि लोकेऽपि रूपदाहगुणाभ्यां विहीनं कञ्चित्पदार्थं वह्निं वदन्ति जानन्ति वा। एतेन गुणं त्यक्त्वा द्रव्यं किमस्तीत्यपि वक्तुं न शक्यते यतो गुणेनैव द्रव्यस्य स्वरूपं प्रतीयते तथापि द्रव्यं किमप्यस्ति यद्गुणविपर्यासे

ऽपि पूर्ववत्तिष्ठति। अतएवोक्तं गुणलक्षणे—"उपैत्यन्यज्जहात्यन्यद्दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि। वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ॥" यौवनावस्थायां येषां गुणानामाविर्भावस्ते वार्द्धके न भवन्ति तथापि स एवात्मा यौवनावस्थास्थगुणान् प्रत्यभिजानाति। अत्रापि ज्ञानबुद्धिस्मृत्यादयो गुणा आत्मा ज्ञाता द्रव्यं तेषां ज्ञानादिगुणानां विपर्यासे द्रव्यमात्मा न विपर्यस्यत इति द्रव्यगुणयोर्भेदः। गुणाश्च केचिन्नित्या अपरे नैमित्तिकाश्च । नैमित्तिकाः स्वस्वव्यञ्जकैस्तिरोभावकैर्वा हेतुभिः समये समये देशकालवस्तुभेदेन उत्पद्यन्ते नष्टा भवन्ति वा । नित्या अपि समये समये स्वानुकूलसामग्र्या विरोधिन्या वा प्राबल्यं नैर्बल्यं वापन्ना व्यज्यन्ते तिरो भवन्ति वा । नैमित्तिका गुणाः शरीरादौ नैत्यिकाऽऽहारविहारादिना विपरिणम्यन्ते। नित्यास्तु कारणत एव कार्य आगच्छन्ति। ये गुणाः कारणे कार्ये चोभयत्र सामान्येन तिष्ठन्ति कारणात्कार्येऽन्विता भवन्ति ते नित्याः। यथा काठिन्यं मृत्तिकायां घटादौ चास्ति। एवमत्रापि बहवो गुणाः सन्ति ये कारणात्कार्यमनुयन्ति। यथा सर्वप्राणिशरीरेषु सत्त्वरजस्तमोरूपाः सर्वे गुणा देशकालवस्तुभेदेन तारतम्यमापन्नाः सदैव तिष्ठन्ति त एव ब्राह्मणादिवर्णत्वसूचका यतो गुणानां सद्भाव एव ब्राह्मणादित्वम्। एवमेकस्मिन्प्राणिनिकाये चत्वारोऽपि वर्णाः सन्ति। अत एव वेदेऽप्युक्तम्—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतेति ॥

अर्थादस्य मनुष्यशरीरसमुदायस्यावयवाश्चत्वार एव प्रधानाः सन्ति तेषु सर्वप्रधानं वेदादीनामध्ययनाऽध्यापनमननविचारहेतुकं

धर्मोपदेशप्रचारवर्द्धकं शिरोमात्रं मुखं ब्राह्मणो विद्याधर्मप्रचाररूपे प्राधान्येन मुखावयवसाध्ये कर्मणि रतो ब्राह्मण इति मुख्याशयः। दुष्टताडनश्रेष्ठसंरक्षणरूपे बाहुसाध्ये प्रजारक्षणकर्मणि प्राधान्येन तत्परो बाहुरूपः क्षत्रियः। प्राधान्येनोरुसाध्ये पशुरक्षणादिकर्मस्थो वैश्यः पादस्थानीय इतस्ततो धावने प्रेष्यकर्मणि प्रवृत्तः शूद्र इति मन्त्रार्थः। सत्त्वप्रधानो ब्राह्मणो रजःप्रधानः क्षत्रियो रजस्तमसोः साम्ये वैश्यस्तमःप्रधानः शूद्र इति। अर्थादेकैकस्मिन् शरीरे वर्ण-चतुष्टयधर्मे विद्यमाने यत्र यत्र यस्य यस्य वर्णधर्मस्य प्राधान्यं स स ब्राह्मणादिपदवाच्यो भवति। तत्र सत्त्वादयो गुणा दृष्टान्ता उदाहरणानि वा सन्ति। एवं सति गर्भाधानावसरे मातापित्रोः शरीरे यस्य गुणस्योत्कर्षः स्वाभाविकप्रवृत्त्या नैमित्तिकव्यवहारेण वा भवति तयोरपत्यमपि तादृशमेवोत्पद्यते तथाचोक्तं शुश्रुतायुर्वेदस्य शारीरस्थाने—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

एतेन सिद्धं कारणत एव कार्ये गुणा आगच्छन्ति। द्विविधो वर्णविचारोऽस्ति लौकिकः शास्त्रीयश्च। लौकिकविचारे गुणकर्मणामभावेऽपि ब्राह्मणादिशब्दाः प्रयुज्यन्त इत्ययं सिद्धानुवादोऽस्ति। शास्त्रसम्मत्या च यत्र यत्र ब्राह्मणादीनां गुणकर्माणि भवेयुस्ते त एव ब्राह्मणादिपदवाच्या भवेयुः। गुणकर्मणां प्राधान्यं च परीक्षानिर्भरमस्ति। यथा ब्राह्मण्यपरीक्षार्थं ये सत्यादयो गुणास्तेषां प्राणसंकट उपस्थिते पुत्रादीनां वधावसरे महति वा धनविनाश उपस्थिते सत्यासत्ययोर्मध्ये यः सत्यमेवाचरेत् स्वजीवनादिकमपि स्वधर्मपालनार्थं

परित्यजेन्नतु धर्मं त्यजेत्स ब्राह्मणः। यत्र विशिष्टौ हानिलाभौ न स्तस्तत्र तु कस्यापि सत्यभाषणं ब्राह्मण्योपपादकं न भवति। प्रजारक्षणार्थं दुष्टानां हननाय च स्वप्राणस्य योऽर्पणं करोति सङ्ग्रामेषु च पराङ्मुखो यो न भवति स क्षत्रियः। एवं प्राणादपि प्रियं मत्वा स्वधर्मं सेवमाना वैश्यादयोऽपि परीक्षोत्तीर्णा भूत्वा तत्र तत्र वर्णे प्रविष्टा भवितुमर्हन्ति। यदि कश्चिद्वदेदेवं विधपरीक्षायामुत्तीर्णास्तु केचिदेव भविष्यन्ति न सर्वे प्रायशो वा। तर्हि ये तादृशास्त एव पूर्णा ब्राह्मणादयः सन्ति न तु सर्वे। अन्येषु यत्र यादृशस्य गुणस्य यदपेक्षया प्राधान्यं स तदपेक्षया ब्राह्मणः क्षत्रियो वास्ति। इयं च शास्त्रीया व्यवस्थास्ति लोके च गुणकर्मानपेक्ष एव ब्राह्मणादीनामेकैकः समुदायोस्ति। यस्मिन् यस्मिन् ब्राह्मणादिसमुदाये यस्य यस्य वर्णस्योत्पत्तिः स स ब्राह्मणादिपदवाच्यः। उभयविधेऽप्यस्मिन् वर्णविभागे गुणकर्मणामेव प्राधान्यमस्ति यतो हि जातितोऽपि ब्राह्मणादित्वं कारणात्कार्ये गुणकर्मान्वयादेवास्ति। जात्यपेक्षं गुणकर्मणामेव प्राधान्यमभ्युपगम्य महाभारत इत्थमुक्तम्—

ब्राह्मणः को भवेद्राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे॥ युधिष्ठिर उवाच—
सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
सर्प—चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च॥
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर। युधिष्ठिर—
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ सर्प-
यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदायुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते ॥ युधिष्ठिर-
जातिरत्र महा सर्प मनुष्यत्वे महामते ।
सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥
प्राङ्नाभिवर्द्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
सङ्करस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ॥
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥

महाभारते बनपर्वणि । अ० १८० शीलं सच्चरित्रमानृशंस्यमहिंसात्मकता तपो द्वन्द्वसहनं घृणा दया कृपा । चतुर्षु वर्णेषु यदा सामान्येनैव सत्यस्य प्रामाण्यं सर्वैश्च सत्यं वक्तव्यमिति विधीयते वेदादिषु तस्माच्छूद्रस्यापि ब्राह्मणत्वं प्राप्तमिति ब्राह्मणलक्षणे व्य-

भिचारो दोषः। एवं ब्राह्मणपदेन जातिमात्रं विवक्षुः सर्पः शूद्रे तल्लक्षणं दूषयति। तमोगुणप्रधानेषु निद्रालस्यप्रमादातिमैथुनासङ्गेषु रतिः शूद्रस्य लिङ्गं तद्ब्राह्मणे नास्ति सत्त्वगुणप्राधान्यात्। एककालावच्छेदेन विरुद्धं धर्मद्वयमेकस्मिन् वस्तुनि नैव तिष्ठति। वृत्तमेतत्सत्यादीनां नैरन्तर्येण वर्त्तनमाचरणम्। कृतिः क्रिया सत्यादीनामनुष्ठानम्। वाङ्मैथुनं जन्म मरणं च प्राणिनां समं स्वाभाविकं तस्माज्जन्मतो ब्राह्मणादीनां परीक्षा दुर्लभा। इदमार्षं वैदिकं प्रमाणमस्ति येयजामहे—ये वयं ब्राह्मणा अन्ये वा स्मस्ते वयं यजामह इति जातिब्राह्मणत्वेऽनिश्चयं मत्वा यज्ञकर्मणि दृढा प्रीतिः प्रवृत्तिश्च ब्राह्मणत्वे हेतुरित्यनुमीयते। एवं ब्राह्मणादित्वे गुणकर्मप्रधानपरं वैदिकं प्रमाणं दत्त्वा प्राङ्नाभिवर्द्धनादिति स्मार्त्तं मानवं प्रमाणं दर्शयति। वेदोपदेशानन्तरमेव ब्राह्मण्यमाविर्भवति। यदि वेदाध्ययनयज्ञोपवीतादिसंस्काराः सत्यादीनामनुष्ठानं च नास्ति तदा सर्वाः प्रजाः कृतकृत्याः शूद्रतुल्याः सन्ति नास्ति तेषां कर्त्तव्यम्। तथा चास्मिन्नेव वनपर्वणि अ० ३१३ यक्षउवाच—

राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम्॥ युधिष्ठिरः—
शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

अत्रापि वृत्तशब्देन सर्वापेक्षया सत्यादीनामनुष्ठानस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम् । सर्पयक्षादिशब्देन हितोपदेशादौ काकादीनां कथनमिव बोध्यम् । यथा तत्र काकादयो वक्तुमशक्तास्तेषां कथने सम्भवासम्भवौ नापेक्ष्येते तथैवात्रापि विज्ञेयमुपदेशमात्रेण तात्पर्यम् । सर्पादीनामितिहासः प्ररोचनार्थः । एवं यदि कश्चित्क्षत्रियवैश्यशूद्रसमुदायेऽप्युत्पन्नः सोऽपि सद्वृत्तप्राधान्याद्ब्राह्मणादित्वमाप्नोति । ब्राह्मणाद्युत्कृष्टकुलजोऽपि निकृष्टकर्मसेवनात्तादृशनीचवर्णो जायते। तथा मनुना दशमाऽध्याये चोक्तम्—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

तथा—धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । इत्यापस्तम्बसूत्रे—एवमन्यत्रापि श्रुतिस्मृतिषु बहुशः प्रमाणानि सन्ति यैर्वर्णविपर्यासः स्पष्टमुपलभ्यते । युक्तितोऽप्येतदेव सम्भवति। ब्राह्मणादयोऽधिकारवाचकाः शब्दा अधिकाराणां चोपचयापचयौ भवतएव तत्र ब्राह्मणाद्युच्चवंशस्थानां चाण्डालादिनिकृष्टकर्मोपासनाच्चाण्डालादित्वं सद्यः सम्पद्यत इति प्रायशो जनैरङ्गीक्रियते । यश्च चाण्डालादिभिः सह भोजनाच्छादनादिसम्पर्कं करोति तमुच्चसमुदायतः क्षिप्रं पातयन्तीति दृष्टचरम्। अत्र विशिष्टो विवादो नास्ति। परन्तु यः कोऽपि निकृष्टो वर्ण उच्चकर्मसु रमेत तस्य ब्राह्मणादित्वे बहवो विवादं कुर्वन्ति। स च विवादो

निर्मूलोऽस्ति यदा ब्राह्मणादीनां पातित्यं स्वीक्रियते तदा शूद्रादीनामपि ब्राह्मणादित्वं न्यायतः प्राप्तम्। कस्यचिदुपरिष्टाद्गमनं कस्यचिदधस्तादित्युभयं लोके दृष्टचरम्। उच्चानामधस्तादेव पतनं स्यान्नीचानामुच्चत्वं च न स्यादिति विरुद्धम्। तत्रैतावान् विवेकोऽस्ति—यथा मन्दिरादीनां पतनं पातनं च सद्यः सम्भवति निर्माणं च कालेन जायते तथैव ब्राह्मणाद्युच्चानां निकृष्टकर्मोपासनात्सद्यः पतनं जायते शूद्रादीनां च ब्राह्मणादित्वं सद्मादीनां निर्माणमिवातिकालेन सम्भवति। अयमेव सिद्धान्तः साधुर्भाति। विश्वामित्रक्षत्रियादयोऽपि बहुकालं तपस्तप्त्वा ब्राह्मणादित्वं प्राप्ता अत्रोदाहरणभूता विज्ञेयाः। उच्चानां सद्यः पतनं च लोकएव प्रसिद्धम्॥

केचिज्जातितएव वर्णव्यवस्थामिच्छन्ति तेषां नये मृद्गवकादीनामपि गोत्वादिकं प्राप्नोति तेऽपि गवाकृतिं पुरस्कृत्य निर्मीयन्ते। यथाकाष्ठमयोहस्तीत्यादि धर्मशास्त्रस्थानि वचनानि तथा—स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थमित्यादिवेदवाक्यानि च व्याहन्येरन्। गुणकर्मभिरेव सर्वं विज्ञायत इदमित्थंभूतमिति। मृद्गवकादीनां च गुणकर्मभ्यां विना गोत्वादिकं नास्तीति दर्शयितुमेव यथाकाष्ठमयो हस्तीत्यादीनि वचांसि धर्मशास्त्रकारैरुक्तानि। तस्मात्केवलजात्या ब्राह्मणादित्वं नास्ति॥

केचिच्च सर्वथा जातिं त्यक्त्वा केवलैर्गुणकर्मभिरेव ब्राह्मणादित्वमिच्छन्ति। वदन्ति च यदि जात्या ब्राह्मणादित्वं स्यात्तदा वर्णे श्वेतादौ शरीरस्थरुधिरादिषु धातुषु च भेदो लक्ष्येत स च भेदो नोपलभ्यते तस्माज्जात्या ब्राह्मणादित्वं नास्ति। एवं मन्यमानानां मते ब्राह्मणादित्वबोधकगुणानामनित्यत्वं प्राप्नोति वीर्यप्राधान्याप्राधान्याभ्यामुत्कर्षापकर्षप्रदर्शनपराणि धर्मशास्त्रस्थानि—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यइति निश्चयः ॥
इत्यादीनि वाक्यानि व्याहन्येरन् ।
व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥

इत्यादिवाक्यानामप्ययमेवाशयो यद्ब्राह्मणादित्वद्योतका गुणा गर्भाधानदशायां वीर्यतएवायान्ति । मनुष्यवीर्यात्पश्वादीनां निषेधपराण्युक्तवाक्यानि नैव योज्यानि। यतः प्राप्तौ सत्यां निषेधः कर्त्तुं शक्यते। अत्र च बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते— इत्यादिना बीजस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम्। स च बीजप्रधानपक्षो लोके स्पष्टमुपलभ्यते । यादृशावृषभेण गौः संयुज्यते तादृश एव वत्स उत्पद्यते–तथा केचिदश्वाः स्वजातावुत्कृष्टा अवान्तर्भेदभिन्ना विशिष्टगुणवन्तश्च भवन्ति तादृशाश्वेन वडवायाः संयोगाद्यादृशा उत्पद्यन्ते न तादृशाः सामान्याश्वसंयोगाज्जायन्ते। कदाचिद्विशिष्टाश्वसंयोगेनापि सामान्या जायन्ते तदा सामान्याश्वो वडवया दृष्टस्तस्य छायापतितेति वदन्ति । एवंविशिष्टापवाददशायामपि सामान्यनियमस्य विघातो न भवति। ब्राह्मणादिवर्णानां रुधिरादिधातुभेदस्त्ववश्यं मन्तव्यएव। सत्त्वशुद्धितारतम्यएव वर्णभेदस्य कारणम्। स च धातुभेदः सूक्ष्मदर्शिभिरेव ज्ञातुं शक्यते सात्त्विकाहारसेवनात्तादृशाः शुद्धा रसादयो धातव उत्पद्यन्ते। धातुभेदं पुरस्कृत्यैव बीजप्रधानपक्षस्य व्याख्यानं युज्यते। तस्माद्ब्राह्मणादिवर्णानां जातितो

गुणकर्मतश्च व्यवस्था स्वीकार्या। शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकथनं तु लोकप्रसिद्धस्य शूद्रसमुदायउत्पन्नस्य ब्राह्मणत्वप्रदर्शनार्थम्। वस्तुतस्तु शूद्रसमुदाये जायमानः स पूर्वं गर्भाधानावसरत एव केनापि प्रकारेण ब्राह्मणसंस्कारवानासीत्। ब्राह्मणेन सह तस्य मातुः संयोगात्तस्य पितरि गर्भाधानकाले सत्सङ्गादिसञ्चितब्राह्मणगुणानामुत्कर्षाद्वा। एवं सत्येव वर्णव्यवस्था वेदादिशास्त्रानुकूला सम्भवति। यो यस्मिन् समुदाये समुत्पन्नस्तस्य तादृशएव ब्राह्मणादिपदेन व्यवहारः क्रियते स तु लौकिकः प्रचारः शास्त्रानुकूलं ब्राह्मणादित्वं तन्नास्ति शास्त्रसिद्धान्तस्तु संक्षेपतउक्तः ॥

भाषार्थः—अब ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था कैसे माननी चाहिये इस का विचार किया जाता है। क्या ब्राह्मणादि वर्ण विद्यादिसम्बन्धी गुणकर्मों के विभागमात्र से मानने चाहिये कि जिस में विद्यादि उत्तम गुणकर्मस्वभाव हों वही ब्राह्मण है अथवा जन्म से ही माने जावें कि जो २ ब्राह्मणादि के कुल में उत्पन्न हो वह २ ब्राह्मणादि माना जावे इस विषय में मानवधर्मशास्त्र का क्या सिद्धान्त है सो दिखाते हैं। विद्यादि गुणकर्म और जन्म दोनों से ब्राह्मणादि का पूरा २ ब्राह्मणादिपन सिद्ध होता है। जैसे गुणकर्म से ब्राह्मणादि की परीक्षा हो सकना मान कर यह कहा गया कि " जैसे काठ का हाथी और केवल चाम में भूसा भर कर बनाया हरिण हाथी और हरिण का काम न दे सकने से व्यर्थ वा नाममात्र है वैसे ही विना पढ़ा ब्राह्मण ये तीनों हाथी हरिण और ब्राह्मण नाम धरानेमात्र हैं किन्तु वास्तव में नहीं। तथा जो द्विज वेद को न पढ़ कर अन्यत्र ही श्रम करता है अर्थात् अन्यग्रन्थों को ही पढ़ता रहता है वह अपनी वर्त्तमान दशा में ही अपने कुटुम्ब वाल बच्चों सहित शूद्र हो जाता है " यह मनु का आशय है। तथा "मनुष्य को अपना आचरण बड़े उद्योग से ठीक रखना चाहिये और धन तो आता जाता बना रहता है इस लिये धन से निर्बल मनुष्य निर्बल नहीं किन्तु जिस के आचरण बिगड़े हैं वह वास्तव में बिगड़ा जानो। सत्य, दान, क्षमा, शुद्धि, अहिंसा, तप और दया ये धर्म के लक्षण जिस में विद्यमान

हों वह ब्राह्मण है" यह महाभारत का लेख है । तथा जन्म से भी ब्राह्मणादि का होना मान कर बीज और खेत के प्रधान वा अप्रधान पक्ष का व्याख्यान किया है तथा शर्मशब्द युक्त ब्राह्मण का और रक्षायुक्त क्षत्रिय का नाम रक्खे यह भी नामकरणसंस्कार के अवसर पर कथन करना जन्म से ब्राह्मणादिपन होने में ही बन सकता है । सो यह सूक्ष्म और विशेष विचार करने से ज्ञात हो सकता है कि शरीरों के बीच में ब्राह्मणादिपन क्या वस्तु है ? इस में मुख्य सिद्धान्त यही है कि अन्तःकरण के साथ वा चेतना धातु के साथ सम्बन्ध रखने वाले ऐसे कई गुण हैं जिन के होने से उस २ व्यक्ति के ब्राह्मणादि कहना बन सकता है । वे गुण प्रकृतिपुरुष के संयोग वाले जड़चेतन शरीर के साथ ही रहते अर्थात् गर्भावस्था से ही उन में होते हैं बाल्यावस्था में उन के आविर्भाव प्रकटता का समय नहीं होता इस कारण दबे रहते हैं परन्तु अधिक विचारशील लोग बाल्यावस्था में भी परीक्षा कर सकते हैं कि यह आगे ऐसा होगा । इसी विचार के अनुसार व्याकरण महाभाष्यकार ने भी कहा है कि "विद्या तप और योनि अर्थात् उत्पत्ति का कारण ये तीनों ब्राह्मण के चिह्न हैं अर्थात् इन तीनों के ठीक वा उत्तम होने से ब्राह्मण हो सकता है । जो विद्या और तप नाम अपने अध्यापनादि धर्मशास्त्रोक्त छः कर्मों से रहित है वह केवल जातिब्राह्मण है अर्थात् ब्राह्मण का वीर्य होने से ब्राह्मण कहाता है" । इसी जातिब्राह्मण पदवाच्य के मनु जी ने ब्राह्मणब्रुव शब्द से कहा है और जैसे काठ का हाथी वैसा ही गुणकर्म रहित ब्राह्मण है इस से निष्फल दिखाया है। और मुख्य बात यही है कि जिस२ गुण के होने से वह२ शब्द उस२ वस्तु का वाचक ठहराया गया है उस२ गुण के विद्यमान रहने से ही वह२ शब्द उस२ वाच्य वस्तु का वाचक हो सकता है । जैसे गन्ध वाली पृथिवी रूप और दाहगुण वाला अग्नि है यह माना जाता है परन्तु गन्ध और रूप वा दाह गुणों के विना पृथिवीपन वा अग्नि का होना नहीं कह सकते क्योंकि रूप देखने और स्पर्श में दाह होने से जानते हैं कि यह अग्नि है । इसी आशय के लेकर महाभाष्यकार ने भी लिखा है कि "द्रव्य में जिस गुण के विद्यमान होने से उस२ शब्द के वाचक नियत किया जाता है उसी गुण की प्रधानता कहने के लिये व्याकरण में त्व तल् प्रत्यय होते हैं" इसी प्रकार ब्राह्मणादिपदवाच्यों में उस२ ब्राह्मणादिपन गुण के होने पर ही ब्राह्मणादि शब्द उन२ व्यक्तियों के वाचक होने चाहिये। जैसे लोक में भी रूप और

दाहगुणों से रहित किसी वस्तु को कोई अग्नि नहीं कहता वा न जानता मानता है। इसी प्रकार शास्त्र की मर्यादा के अनुसार जिन २ गुणों के होने से ब्राह्मणादिवर्ण कहे वा माने जाने चाहिये उन के न होने पर उन २ को ब्राह्मणादि कहना वा मानना अनुचित है परन्तु लोक में ऐसा नहीं होता किन्तु गुणहीनों को भी ब्राह्मणादि कहते मानते हैं सो यह शास्त्र की मर्यादा वा विद्वानों की शैली से विरुद्ध है। इस पूर्वोक्त कथन से गुण को छोड़ कर द्रव्य क्या वस्तु है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि गुण ही प्रत्यक्ष होता और गुण से ही द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करते हैं। तो भी यह नहीं कह सकते कि द्रव्य कुछ नहीं किन्तु द्रव्य कुछ है कि जो गुण के बदल जाने से वा न रहने पर भी पूर्व के तुल्य बना रहता है। इसी के अनुसार गुण का लक्षण व्याकरण महाभाष्य में ऐसा लिखा है कि "अन्य किसी वस्तु को छोड़ कर अन्य को प्राप्त होता और वही गुण द्रव्यान्तरों में भी दीखता है और तीनों लिङ्ग का वाचक होता ऐसा गुण द्रव्य से भिन्न है"। यौवन अवस्था में जिन गुणों का प्रादुर्भाव होता है वे वृद्धावस्था में नहीं रहते तो भी वही युवावस्था के गुणों वाला जीवात्मा पूर्व बीती बातों का स्मरण करता है। यहां भी ज्ञान बुद्धि और स्मृति आदि गुण आत्मा ज्ञाता और द्रव्यरूप है सो वह आत्मा ज्ञानादि गुणों के विपरीत होने पर भी यथावस्थित रहता है यही द्रव्यगुण का भेद है। गुण भी कोई नित्य और कोई नैमित्तिक होते हैं। नैमित्तिक गुण समय२ पर देशकाल वस्तु भेद से अपने २ प्रकाशक वा नाशक कारणों से उत्पन्न वा नष्ट होते रहते हैं तथा नित्य गुण भी समय २ पर अपने अनुकूल वा विरुद्ध सामग्री के संयोग से प्रबलता वा निर्बलता को प्राप्त हुए उछलते दबते रहते हैं। शरीरादि में रहने वाले नैमित्तिकगुण नित्य के आहार विहार से बदलते रहते हैं परन्तु नित्यगुण कारण से ही कार्य में आते हैं और जो गुण कार्य कारण दोनों में रहते हैं अर्थात् कारण से कार्य में अन्वित होते हैं वे ही नित्य हैं जैसे कठिनाई मट्टी और घड़ा दोनों में रहती है। इसी प्रकार यहां भी बहुत गुण ऐसे हैं जो कारण से कार्य में आते हैं जैसे सब प्राणियों के शरीर में सत्त्व, रजस् और तमोरूप सब गुण देशकाल वस्तु भेद से न्यूनाधिकता को प्राप्त हुए सदा ही ठहरते हैं। वे ही गुण ब्राह्मणादिवर्ण के सूचक हैं क्योंकि गुणों का होना ही ब्राह्मणादिपन जताता है। अर्थात् जिन गुणों से ब्राह्मणादिवर्णों का विभाग बनता है वे सत्त्वादि कारण से कार्य में आते हैं

इस कारण नित्य हैं। इस प्रकार एक २ मनुष्य के शरीर में चारो वर्ण रहते हैं अर्थात् ब्राह्मणादि चारो वर्ण में चारो का समावेश रहता है। ब्राह्मण में ब्राह्मण का गुण प्रधान और अन्य तीन का गौण रहता तथा ऐसे ही क्षत्रियादि में जानो। इसी के अनुसार वेद में भी लिखा है कि (ब्राह्मणोऽस्य मुख०) अर्थात् इस मनुष्य शरीररूप समुदाय के चार अवयव मुख्य हैं उन में सर्वोपरि उत्तम वेदादि के पढने पढाने मनन वा विचार के हेतु धर्म के उपदेश वा प्रचार को बढाने वाला शिरमात्र मुख ब्राह्मण है अर्थात् विद्या और धर्म के प्रचाररूप मुख्यकर मुख अवयव से सिद्ध होने योग्य कर्म में तत्पर पुरुष ब्राह्मण है। दुष्टों का ताडन तथा श्रेष्ठों की रक्षा करनेरूप भुजबल से सिद्ध होने योग्य प्रजारक्षणरूप काम में मुख्यकर तत्पर बाहु प्रधान क्षत्रिय कहाता तथा मुख्यकर गोड़ों से सिद्ध होने योग्य पशुओं की रक्षा आदि काम में प्रवीण वैश्य और पगों से सम्बन्ध रखने वाले इधर उधर भागनेरूप दासकर्म में प्रवृत्त शूद्र है। अर्थात् एक २ शरीर में मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय और गोड़े वैश्य तथा पग शूद्र हैं यह मन्त्र का आशय है। सत्वगुणी ब्राह्मण, रजोगुणप्रधान क्षत्रिय तथा रजस् और तमोगुण के मेल में वैश्य और तमोगुणप्रधान शूद्र है अर्थात् एक २ शरीर में चारो वर्ण का गुण वा धर्म रहने पर भी जिस २ व्यक्ति में जिस २ वर्ण के धर्म की प्रधानता हो वह २ उसी ब्राह्मणादिपद का वाच्य होता है उस में सत्वादिगुण उदाहरण वा दृष्टान्त हैं। ऐसा होने पर गर्भाधान समय माता पिता के शरीर में जिस गुण का जैसा उत्कर्ष स्वाभाविक प्रवृत्ति से हो वा नैमित्तिक सत्सङ्ग आदि व्यवहार से होवे तो उन का सन्तान वैसे ही गुण को विशेष कर धारण करने वाला होगा। सो सुश्रुत के शारीरस्थान में कहा भी है कि जैसे २ आहार आचार और चेष्टा से युक्त हुए स्त्रीपुरुष गर्भाधान करें उस समय उन दोनों के मन की वासना जैसी होगी वैसे ही संस्कारों वाला सन्तान होगा। इसी कारण एक ही पुरुष के सन्तानों में भिन्न २ बुद्धि वा स्वभावादि होते हैं। क्योंकि सब के गर्भाधान में पिता माता की वासना एकसी नहीं रह सकती। इस से सिद्ध होगया कि कारण से कार्य में गुण आया करते हैं। वर्णविचार दो प्रकार का है एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय लौकिक विचार में गुणकर्मों के अभाव होने पर भी ब्राह्मणादि शब्दों का प्रयोग उन २ व्यक्तियों के साथ किया जाता है यह सिद्धानुवाद है। और शास्त्र की आज्ञा वा सम्मति से जिस २ में ब्राह्मणादि के गुण कर्म हों वे २ ही ब्राह्मणादि

पद वाच्य हों और गुण कर्मों की प्रधानता परीक्षा के आधीन है । जैसे ब्राह्मणत्व की परीक्षा के लिये जो सत्यादि गुण हैं उन का आपत्काल में भी त्याग न करे कितनी ही हानि वा दुःख उठाना स्वीकार कर ले पर जो अपने सत्याचरणादि धर्म को न छोड़े । धर्म छोड़ने से अपना शरीर बचता हो वा धर्मानुकूल वर्त्तने से पुत्रादि के वध का अवसर आगया हो वा धनादि वस्तुओं की बड़ी हानि होती हो तो भी जो सत्य और असत्य में से सत्य का ही आचरण स्वीकार करे । अपने धर्म की रक्षा के लिये अपने जीवनादि को भी अर्पण कर दे वह ब्राह्मण है । जहां विशेष हानि लाभ नहीं हैं वहां किसी के सत्यभाषण की दृढ़ता भी ब्राह्मणपन को सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि सब समय सब बातों की परीक्षा नहीं होती इसीलिये नीति में कहाहै कि [जानीयात्प्रेषणे०] किसी विशेष समय कठिन प्रदेश में विशेष दुःख में भेजने की आज्ञा दे कर भृत्य की परीक्षा करे । व्यसन में कुटुम्बियों की आपत्काल में मित्र की और निर्धनता के समय स्त्री की परीक्षा करे। इत्यादि प्रकार सब बातों की परीक्षा विशेषदशा में हुआ करती है सब समय में सब की परीक्षा नहीं होती । इसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिये दुष्टों को दण्ड देने के अर्थ जो अपने प्राण का भी अर्पण करता है तथा युद्ध के समय जो प्राण बचाने के लिये मुख न मोड़े वह क्षत्रिय है । इसी प्रकार वैश्यादि भी अपने धर्म को प्राण से भी अधिक प्रिय मान कर सेवन करते हुए परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उस २ वर्ण में प्रविष्ट हो सकते हैं। यदि कोई कहे कि ऐसी परीक्षा में उत्तीर्ण तो कोई ही हो सकते हैं सब वा प्रायः नहीं तो उत्तर यही है कि जो परीक्षा में उत्तीर्ण हों वे ही पूरे २ ब्राह्मणादि हैं सब नहीं । अन्यों में से जिस में जिस की अपेक्षा जैसे गुण की जितनी प्रधानता होगी वह उस की अपेक्षा वैसा ही न्यूनाधिक ब्राह्मणादि होगा वा माना जायगा क्योंकि सब बातें सापेक्ष हुआ करती हैं । परन्तु ब्राह्मणादि पदों का जो मुख्य अर्थ है उस का सर्वथा अभाव होने से उन को ब्राह्मणादि न कहना वा न मानना चाहिये । जैसे ब्रह्मशब्द से ब्राह्मणशब्द बना है यद्यपि ब्रह्मशब्द के कई अर्थ हैं तथापि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुसार यहां वेद के पर्यायवाचक ब्रह्मशब्द से ब्राह्मणपद बनता है। अर्थ यह है कि ब्रह्मनाम वेद का पढ़ने पढ़ाने जानने तथा उपदेशादिद्वारा प्रचार करने वाला ब्राह्मण है । धर्मशास्त्र में लिखा है कि (शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते) "तब तक वह शूद्र के ही तुल्य है जब तक यज्ञोपवीत

संस्कार होकर उस का वेद में प्रवेश न हो" वेद के पढ़ने पढ़ाने जानने वा प्रचारादि करने में जिस का जितना उद्योग वा प्रवेश है उस में उतना ही ब्राह्मणपन है। सन्ध्या गायत्री तथा अग्निहोत्रादि पञ्चमहायज्ञों का जानना करना भी कुछ वेद के साथ सम्बन्ध रखता वा उस में प्रवेश है इस लिये सन्ध्यादि करने वा जानने वाले को भी किसी प्रकार ब्राह्मण कह सकते हैं। प्रयोजन यह है कि सत्यादि धर्म के लक्षणों का सेवनमात्र ब्राह्मणत्व का प्रयोजक नहीं किन्तु ब्रह्मनाम वेद का जानना और वेदोक्त कर्मों का करना ही ब्राह्मण बनाता है किन्तु केवल सत्यादि के आचरण से ब्राह्मण नहीं होता और दोनों के होने से ठीक२ पूरा ब्राह्मण हो सकता है। क्षत्र शब्द का अर्थ है कि क्षत नाम घाव वा पीड़ा से बचावे अर्थात् बलवान् जीव निर्बलों को दुःख न देने पावें ऐसा उद्योग करने वाला क्षत्रिय, व्यवहार ज्ञान में प्रवेश करने वाला वैश्य और कार्यों की सिद्धि के लिये शीघ्र भागने वाला शूद्र कहाता है। ये चारो गुण एक२ में भी रहते हैं परन्तु जिस में विशेष प्रवृत्ति होती उसी २ गुण की प्रधानता से वह यथोचित ब्राह्मणादि कहाने योग्य होता है। यह शास्त्र की व्यवस्था है परन्तु लोक में गुणकर्मादि की अपेक्षा को छोड़ कर केवल जन्म से भी ब्राह्मणादि वर्णों का एक २ समुदाय माना जाता है। जिस२ ब्राह्मणादि समुदाय में जिस२ वर्ण की उत्पत्ति होती है वह२ ब्राह्मणादि पदवाच्य माना जाता है। इस दोनों प्रकार की वर्ण विभाग व्यवस्था में गुणकर्मों से ब्राह्मणादि के मानने की प्रधानता है क्योंकि जो कुछ जन्म से भी ब्राह्मणादिपन है वह कारण के गुण कार्य में आने से ही बन सकता है। सो जाति की अपेक्षा गुणकर्मों की ही प्रधानता को मान कर महाभारत में ऐसा कहा है कि "एक अजगर बोला कि हे राजन् युधिष्ठिर! ब्राह्मण कौन हो सकता और जानने योग्य क्या है? तुम्हारे वचन सुन कर मुझे अनुमान हुआ कि आप बड़े विचारशील विद्वान् हैं ॥१॥ युधिष्ठिर बोले कि सत्यबोलना मानना वा करना दान देना, सहनशीलता का धारण करना, कोमल स्वभाव, अच्छा आचरण, हिंसा का सर्वथा त्याग, निन्दास्तुति आदि द्वन्द्व का सहना और सब पर दया रखना ये गुण वा स्वभाव जिस में दीख पड़ें उसे ब्राह्मण मानना चाहिये ॥ २ ॥ फिर सर्प बोला कि चारो वर्ण में जब सामान्य कर ही सत्य का प्रमाण है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में सब को सत्य बोलना चाहिये ऐसी आज्ञा दी गयी है। शूद्रों में भी सत्य का आचरण तथा दान और क्षमा हो

सकती और सब में एकता बढ़ाना और हिंसा का त्याग तथा दया करना इ-त्यादि धर्म के सामान्य लक्षण शूद्र में भी मिल सकते हैं तो क्या शूद्र भी ब्राह्मण होगा ? अर्थात् आप के ब्राह्मणविषयक लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। युधिष्ठिर फिर बोले कि निद्रा आलस्य प्रमाद अत्यन्त मैथुन में आसक्ति मिथ्या-भाषण में रुचि इत्यादि निकृष्ट कर्मों में रमण करना ही शूद्र का चिह्न है वह ब्राह्मण में नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होता है इस कारण एक ब्रा-ह्मणादि के शरीर में सत्त्वगुण और तमोगुण की एक काल में एक साथ प्राधा-न्यता नहीं हो सकती। लोक में जिस को शूद्र और जिस को ब्राह्मण मानते हैं शास्त्र की मर्यादा के अनुसार भी वही शूद्र और ब्राह्मण माना जावे सो नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञानी लौकिक लोगों में अन्धेर फैल सकता है पर वेदादि शास्त्रों का विचार करने वाले विद्वान् लोग वैसा नहीं मान सकते किन्तु विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि जिस में सत्य और दान आदि पूर्वोक्त गुणों का ठीक२ आचरण हो वह ब्राह्मण और जिस में सत्यादि का वर्त्तावरूप चिह्न न दीख पड़े वही शूद्र वा क्षत्रिय वा वैश्य है॥

सर्प फिर बोला कि हे राजन् यदि तुम केवल गुणकर्मों का आचरण देखने मात्र से ब्राह्मण मानते हो तो जब तक कर्म न हों तब तक जाति वृथा है अर्थात् जाति नाम उन२ कुलों में जन्म होने से ब्राह्मणादि मानना सर्वथा निष्फल हुआ जाता है पर ऐसा होना अनुचित है॥

इस पर युधिष्ठिर बोले कि जिस जाति को शास्त्रकारों ने भिन्न २ नित्य और सत्य अव्यभिचारिणी माना है वह जाति यहां मनुष्यमात्र की एक लेनी चाहिये अर्थात् मनुष्यजाति सत्य और अव्यभिचारिणी है कभी मनुष्य से पशु पक्षी आदि नहीं बन सकता। और ब्राह्मणादि मुख्यकर जाति नहीं किन्तु वर्ण हैं गुणकर्मों को देख कर उस २ वर्ण का अधिकार वा प्रतिष्ठा दी जाती है इस कारण वर्ण कहाते हैं। उन की परीक्षा ब्राह्मणादि के कुल में जन्म होनेमात्र से नहीं हो सकती क्योंकि यद्यपि ब्राह्मणादिपन गुण कर्म से ही कार्य में आता है तथापि व्यभिचार के होने और माता पिता के संस्कार वा आचरण गर्भाधान समय में विपरीत होने से परीक्षा होना दुस्तर है। प्रायः कुलों में गुप्त वा प्रसिद्ध वर्णसङ्कर तथा धर्मसङ्करता का दोष लगता रहता है। सब ब्राह्मणादि लोग सब ऊंच वा नीच कुल की स्त्रियों में सदा सन्तानों को उत्पन्न करते रहते हैं। वाणी

मैथुन जन्म और मरण आदि सब मनुष्यों का तुल्य ही स्वाभाविक काम है अर्थात् ब्राह्मणादि की स्वाभाविक वाणी आदि में भेद नहीं। जो कुछ नैमित्तिक भेद है वह विद्या पढ़ने आदि से ब्राह्मण और शूद्र में बराबर होगा अर्थात् व्याकरणादि पढ़ने से जैसे ब्राह्मण की वाणी आदि का संशोधन होगा वैसे ही शूद्र की वाणी का भी होगा इस से नैमित्तिक में भी तुल्यता रही। वाणी मैथुन और जन्म मरण ही मनुष्यादि जातियों के भेदक हैं। मनुष्य पशु पक्षी आदि की वाणी भिन्न२ है और जिन में वाणी आदि का भेद नहीं उन का जातिभेद मानना भी ठीक नहीं है। इसी के अनुसार मनुष्यमात्र की वाणी आदि में भेद नहीं इस कारण सब मनुष्य एक जाति हैं॥ तथा (ये यजामहे) यह वेद का प्रमाण है इस का अभिप्राय यह है कि हम लोग ब्राह्मण वा अन्य जो हैं वे यज्ञ करते हैं अर्थात् हम नहीं जान सकते कि हम ब्राह्मण हैं वा कौन इस प्रकार जाति से ब्राह्मण होने में व्यभिचारादि का सन्देह मानकर यज्ञकर्म करने में दृढ प्रीति और प्रवृत्ति होने से ब्राह्मण होने का निश्चय होता है इस लिये हम को यज्ञ करना चाहिये। इस कारण तत्वज्ञानी लोग शील अच्छा स्वभाव शुभकर्म में में रुचि वा प्रवृत्ति ही को मुख्य कर ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था का हेतु मानते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि के होने में गुणकर्म की प्रधानतापरक वैदिकप्रमाण देकर (प्राङ्नाभि०) इत्यादि मनुस्मृति का प्रमाण देते हैं कि मनु जी भी जन्ममात्र से ब्राह्मणादि नहीं मानते। बालक का जन्म होते ही नालच्छेदन करने से पूर्व ही पुरुष का जातकर्म संस्कार कहा है। उस समय वेद के मन्त्रों से मधु और घृत बालक को चटाया जाता है उस वैदिक संस्कार से वह पवित्र किया जाता है यज्ञोपवीतसंस्कार में सावित्री (तत्सवितु०) मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना उपासना बतलायी जाती है उस समय माता के तुल्य हितकारिणी गायत्री और गुरु उस शिष्य ब्रह्मचारी का पिता होता है और उत्पादक माता पिता का साथ उस समय छुड़ा दिया जाता है। जब तक यज्ञोपवीतसंस्कार होकर वेदोक्तकर्म करने और वेद के पढ़ने में प्रवेश न हो तब तक ब्राह्मणादि के बालक भी शूद्र के तुल्य जानने चाहिये। इस प्रकार जगत् में दो प्रकार की बुद्धि है कोई जन्म से ब्राह्मणादि जाति मानते और कोई गुण कर्मों के विद्यमान होने से मानते हैं। इस पर स्वायम्भुवमनु ने (जिन की मनुस्मृति है) कहा है कि यदि अपने २ गुण कर्मों का वर्त्ताव नहीं तो वे ब्राह्मणादि नहीं मानने चाहिये। वे अपने कर्त्तव्य

से च्युत हो कर शूद्र तुल्य हो गये उन के लिये कुछ कर्त्तव्य नहीं। इस ब्राह्मणादि वर्णों के पतित वा नीच हो जाने में व्यभिचार वा धर्म के त्याग से संकर हो जाना ही बड़ा कारण माना गया है। जिस व्यक्ति में शुद्ध आचरण ठीक धर्मानुकूल हो उस को मैं ने प्रथम ब्राह्मण कहा वा माना है सो यही सिद्धान्तपक्ष है। तथा इसी वनपर्व के ३१३ अध्याय में लिखा है कि "हे राजन् युधिष्ठिर! कुल गुण कर्म, वेदादि के पढ़ने अथवा बहुश्रुत होने से (इन में से किस कारण से) ब्राह्मणत्व होता है? यह निश्चय कर कहो। इस यक्ष के प्रश्न को सुन कर युधिष्ठिर जी बोले कि ब्राह्मण होने में कुल, स्वाध्याय और बहुश्रुत होना ये कोई भी कारण नहीं किन्तु ठीक२ सत्यादि का आचरण ही मुख्य कारण है। इस लिये विशेष कर ब्राह्मण को अपना आचरण ठीक रखना चाहिये क्योंकि जिस का आचरण नहीं बिगड़ा वह निर्बल नहीं और आचरण बिगड़ने पर मारा जाता है॥

पढ़ने पढ़ाने और शास्त्र का विचार करने वाले जितने मनुष्य हैं वे यदि वेदादि शास्त्रों से निषिद्ध अधर्म का सेवन करें तो सब मूर्ख वा शूद्र हैं और जो क्रियावान् अर्थात् वेदोक्तधर्मसम्बन्धी कर्म करने वाला है वही पण्डित नाम ब्राह्मण है। कोई ब्राह्मणादि कुल में उत्पन्न होकर चारो वेद भी पढ़ा हो परन्तु दुराचारी हो तो शूद्र से भी अधिक नीच है तथा जो अग्निहोत्रादि कर्म करता और इन्द्रियों वा मन को वश में रखने वाला है वह ब्राह्मण है। यहां भी अन्य कुल आदि की अपेक्षा सत्यादि के सेवन की प्रधानता दिखायी है। यहां सर्प वा यक्षादि शब्दों से इतिहास का सम्भव असम्भव नहीं देखना चाहिये। जैसे हितोपदेशादि पुस्तकों में बनावटी काक वा मूषक आदि के इतिहास उपदेश करने के लिये कल्पित कर लिये जाते हैं वैसे यहां भी इतिहास कल्पित जानने चाहिये। सर्पादि का इतिहास बना कर ऐसी बातों का उपदेश करना रुचि बढ़ाने के लिये है तथा यह भी दिखाना है कि धर्म वा नीति का वर्त्ताव तिर्यग्योनि में भी किसी प्रकार कुछ होता है तो मनुष्य को अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि इस मनुष्य जाति को परमेश्वर ने विचार और धर्म के सेवने से अपने कल्याण कर सकने की सामग्री अन्य पश्वादि की अपेक्षा अधिक दी है॥

इस प्रकार यदि कोई क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के समुदाय में भी उत्पन्न हुआ हो तो वह भी अच्छे आचरणों का ठीक२ सेवन करने से ब्राह्मणादि उच्चवर्ण के अधिकार को प्राप्त हो सकता है तथा ब्राह्मणादि उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ भी

नीचकर्मों के सेवन से नीचवर्ण हो जाता है। सो मानवधर्मशास्त्र के दशवें अध्याय में लिखा है कि "शूद्र ब्राह्मण हो जाता तथा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और क्षत्रिय तथा वैश्य भी अपने से निकृष्ट वा उत्तमवर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं" तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में लिखा है कि "धर्म के आचरण से नीच शूद्रादि वर्ण अपने से पूर्व २ वर्ण को प्राप्त होना और अधर्म के सेवन से पूर्व वर्ण अपने से नीच २ वर्ण को प्राप्त होता जाता है अर्थात् शूद्र अच्छे धर्म-सम्बन्धी आचरणों से वैश्य होता, वैश्य क्षत्रिय और क्षत्रिय ब्राह्मण हो जाता है और इसी प्रकार नीचकर्मों से ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता क्षत्रिय वैश्य बन जाता और वैश्य शूद्र हो जाता तथा शूद्र अतिशूद्र हो जाता है। और मनु के पूर्वोक्त वचन का भी यह अभिप्राय नहीं है कि शूद्र क्षत्रिय और वैश्य नहीं बनता वा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य नहीं बनता किन्तु यह सब होता है ब्राह्मण और शूद्र शब्द उक्त श्लोक में ऊंच और नीच के उपलक्षणार्थ हैं कि ब्राह्मणादि नीचता को प्राप्त होते और शूद्रादि भी ऊंच हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र श्रुति-स्मृतियों में भी बहुत से प्रमाण हैं जिन से वर्णों की लौट पौट होना स्पष्ट सिद्ध है। और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि वर्ण लौट पौट हुआ करते हैं क्योंकि ब्राह्मणादि शब्द अधिकारवाचक हैं और अधिकार सदा बढ़ते घटते रहते हैं। इस में ब्राह्मणादि उच्च वंशस्थ मनुष्यों का चाण्डाल आदि के नीचकर्मों के सेवन से शीघ्र चाण्डालादि हो जाना तो प्रसिद्ध है इस को सभी लोग ऐसा ही स्वीकार भी कर लेते हैं। अर्थात् वैसे मनुष्य को उसी चाण्डाल वा ईसाई आदि के समुदाय में छोड़ देते और अपने समुदाय से निकाल देते हैं। जो कोई चाण्डालादि के साथ भोजन वा जलपानादि व्यवहार कर लेता है उस को श्रेष्ठ लोगों की कोटि से शीघ्र ही पतित कर देते हैं यह प्रत्यक्ष है इस में कुछ विशेष विवाद नहीं। परन्तु कोई नीच समुदाय में से अच्छे कर्म करके ऊंचा बनना चाहता है तो उस के ब्राह्मणादि ऊंच बनने में बहुत लोग विवाद करते हैं सो यह विवाद निर्मूल है क्योंकि जब ब्राह्मणादि का पतित होना स्वीकार है तो शूद्रादि का ब्राह्मणादि होना न्याय से प्राप्त है। क्योंकि बनना बिगड़ना दोनों साथ में लगे रहते हैं। जैसे घटपटादि पदार्थ पहिले २ बिगड़ते जाते हैं और नये २ बनते जाते हैं। तथा जो बिगड़ते हैं वे भी पुनः संस्कार होकर साध्य हुए तो शुद्ध हो जाते हैं। परन्तु यह नहीं हो सकता कि पहिले बिगड़ जावें और नये

न बनें। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणादि का बिगड़ना सिद्ध है वैसे शूद्रादि का ब्राह्मणादि बनना भी मानना चाहिये। जगत् में जितने पदार्थ जड़ और चेतन हैं उन सभी में किसी का ऊपरी दशा से नीचीदशा में आना और किसी का नीचीदशा से ऊपरी दशा में जाना ये दोनों बातें प्रत्यक्ष हैं ऊपर वालों का नीचे गिरना हो और नीचों का ऊपर को जाना न हो यह विरुद्ध है। उस में इतना विचार अवश्य होना चाहिये कि जैसे मन्दिर आदि का गिर जाना वा गिरा देना शीघ्र हो सकता है पर उसी घर के बनाने में परिश्रम और काल दोनों अधिक लगते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणादि ऊंच लोग नीचकर्मों के सेवन से शीघ्र ही पतित हो जाते हैं और घर आदि के बनाने के तुल्य शूद्रादि के ब्राह्मणादि होने में बहुत अतिकाल बीतता है। यही सिद्धान्त श्रेष्ठ जान पड़ता है। विश्वामित्र क्षत्रियादि लोग भी बहुत काल तक तप करके ब्राह्मणादि अधिकार को प्राप्त हुए यहां दृष्टान्तरूप समझने चाहिये। और उत्तम वर्णों का कर्मों से नीच बन जाना तो लोक में भी प्रसिद्ध ही है॥

कोई लोग जातिमात्र से वर्णव्यवस्था मानते हैं कि जो २ ब्राह्मणादि के कुल में उत्पन्न हुए वे २ ब्राह्मणादि हैं। ऐसा मानने वालों के मत में मट्टी की गौ आदि भी गौ होनी चाहिये क्योंकि वे खिलौना भी गौ आदि की आकृति को लेकर ही बनाये जाते हैं। और धर्मशास्त्र के (जैसे काठ का हाथी वैसा गुण कर्महीन ब्राह्मण) इत्यादि वचन तथा (वह मनुष्य स्थाणुनाम ठूंठ के समान निष्फल है कि जो वेद को पाठमात्र पढ़ के उस के अर्थ को नहीं जानता) इत्यादि वेदवाक्य विरुद्ध होंगे क्योंकि इत्यादि वाक्यों से गुणकर्मों के होने पर ही ब्राह्मणादि का होना सिद्ध किया गया है। और केवल जातिमात्र से ब्राह्मणादि के होने को निष्फल ठहराया है। प्रयोजन यह कि गुणकर्मों के होने से ही सब वस्तुओं की परीक्षा हो सकती है कि यह वस्तु ऐसा है। मट्टी की गौ आदि में गुणकर्मों के न होने से गोत्व नहीं है इस बात को दिखाने के लिये ही "जैसे काठ का हाथी वैसा ही विनपढ़ा ब्राह्मण" इत्यादि वचन धर्मशास्त्रकारों ने कहे हैं। इस कारण केवल जाति से ब्राह्मणादिपन सिद्ध कदापि नहीं हो सकता॥

कोई लोग जाति को सर्वथा छोड़ कर केवल गुणकर्मों से ही ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग मानते हैं और कहते भी हैं कि यदि जाति से ब्राह्मणादिपन हो तो श्वेतादि वर्ण और शरीरस्थ रुधिरादि धातुओं में भेद दीख पड़ना

चाहिये शूद्र और ब्राह्मण का रंग वा रुधिरादि भिन्न २ हों, सो भेद तो उपलब्ध होता नहीं इस कारण जाति से ब्राह्मणादि वर्णों का बिभाग नहीं मानना चाहिये। ऐसा मानने वालों के मत में प्रथम तो ब्राह्मणादिपन जताने वाले गुणों की अनित्यता वा निर्मूलता प्राप्त होगी। जब गुण कर्म प्रकृति के साथ लगे हैं तो जातिनिर्मूल न हुई किन्तु जन्म से ही जो गुणकर्ममूलरूप से सन्तान में रहते हैं उन्हीं के अनुकूल समय आदि उपयोगी कारण मिलने से वे प्रकट हो जाते हैं। तथा उन के मत में द्वितीय दोष यह भी आवेगा कि बीर्य के प्रधान वा अप्रधान होने से जिन की श्रेष्ठता वा निकृष्टता दिखायी है ऐसे धर्मशास्त्रों के वाक्य विरुद्ध हो जायँगे। जैसे लिखा है कि "श्रेष्ठ आर्यपुरुष से अनार्यास्त्री में उत्पन्न हुआ अच्छे गुणों से आर्य अर्थात् श्रेष्ठ हो सकता है और अनार्यपुरुष से आर्यास्त्री में उत्पन्न हुआ अनार्य होना निश्चित है" तथा "धान, मूंग, तिल, उड़द, यव, लशुन और ईख आदि बस्तु अपने २ बीज के तुल्य उत्पन्न होते हैं। अन्य कुछ बोया जाय और अन्य उत्पन्न हो यह नहीं हो सकता (गेहूं बोने से जौ नहीं उत्पन्न होता) किन्तु जो २ बीज बोया जाता है वह २ ही उत्पन्न होता है" इत्यादि वाक्यों का भी यही आशय है कि जो ब्राह्मणादिपन को सूचित करने वाले गुण हैं वे गर्भाधानदशा में बीर्य से ही गर्भ में आते हैं। यदि कोई कहे कि उक्त वाक्यों का यह अभिप्राय हो कि मनुष्य के वीर्य से पशु नहीं हो सकते तो ठीक नहीं क्योंकि प्राप्ति में निषेध होते हैं। जब मनुष्य के वीर्य से पशु होना प्राप्त ही नहीं तो निषेध कैसे बन सकता है। इस उक्त मनुस्मृति के प्रकरण में बीज और खेत दोनों से बीज उत्तम है ऐसा दिखाया है। सो बीज की प्रधानता का पक्ष लोक में भी स्पष्ट ही दीखता है। जैसे बैल से गौ का संयोग होता है वैसा ही बछड़ा उत्पन्न होता अर्थात् छोटे बैल के साथ संयोग होने से बड़ोहर बछरा कदापि नहीं हो सकता। इसी कारण बड़ी गौओं के साथ छोटे बैलों को प्रायः संयोग नहीं होने देते। तथा कोई घोड़े अपनी जाति में बड़े प्रबल प्रशंसनीय राशी कहाते विशेष गुणयुक्त होते और वे अश्वजाति में एक अवान्तर भेद भिन्न होते हैं वैसे घोड़े के साथ घोड़ी का संयोग होने से वैसे ही बछेड़ा उत्पन्न होते हैं परन्तु सामान्य मध्यम घोड़े के साथ संयोग होने से वैसे बछेड़ा नहीं होते। कदाचित् कहीं कभी बड़े घोड़े के साथ संयोग होने से भी मध्यम बछेड़ा होते हैं तब मध्यम घोड़ा ऋतुसमय घोड़ी ने देखा हो अर्थात् उस मध्यम

घोड़े की छाया पड़ गयी ऐसा कहते वा मानते हैं। पर ऐसी विशेष अपवाद-दशा में सामान्य नियम का विनाश नहीं होता। जैसे पुरुष से संयोग हो वैसा बच्चा हो यह बीज के प्रधान होने से सामान्य नियम है और छाया आदि पड़ने से कहीं अन्यथा होना अपवाद दशा है। यह पूर्वोक्त बीज प्रधानपक्ष जाति को दृढ़ करता है। जन्म से जो गुण विद्यमान हैं वे ही जाति को सिद्ध करते हैं। कहीं क्षेत्र की भी प्रधानता हो तो भी जाति सिद्ध होगी। वर्णसङ्करों का होना भी किसी प्रकार जाति को सिद्ध करता है क्योंकि अन्य २ वर्ण के माता पिता होने से सन्तान वर्णसङ्कर होता है और माता पिता के शरीरों से जो उत्तमता वा निकृष्टता आती है उसी का नाम जाति है कि जन्म से ही वे उत्तम वा निकृष्ट माने गये हैं। इस से सिद्ध हुआ कि सर्वथा जाति को छोड़ कर केवल गुणकर्मों से ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग नहीं मान सकते और जहां कहीं केवल गुण कर्मों से वर्णविपर्यास लोक में हुआ वा दीख पड़ता वा शास्त्रकारों ने माना है वहां भी पूर्व गर्भाधानदशा से ही उस वर्ण के गुण कर्मों का मूल मानना पड़ेगा कि जो आगे जाकर वर्ण बनना है। जैसे विश्वामित्र जी क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये यहां ऐसा समझना चाहिये कि गर्भाधानदशा में उन के पिता माता की बुद्धि आचरण वा चेष्टा ब्राह्मणत्व की ओर अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान होगी उसी प्रकार का गुण सन्तान में हुआ उसी गुण ने अवस्था पाकर बल पकड़ा और तप आदि का विशेष सेवन करा कर प्रसिद्ध में ब्राह्मण बना दिया। लोक में ब्राह्मणादि वर्णों का मान लेना यह एक पृथक् बात है और वास्तव में गुण कर्म और जाति की परीक्षा से ब्राह्मणादि ठहरना यह दूसरी बात है। जैसे इस समय लोकव्यवस्था के अनुसार जो ब्राह्मणवर्ण कहाता है उस में सहस्रों क्षत्रिय प्रकृति हो गये उन में अधिकांश क्षत्रिय के लक्षण घटते हैं और वे ग्रामाधिपत्य (जमीन्दारी) आदि कार करने वाले ब्राह्मण कहाने से घृणा भी करते हैं किन्तु अपने को ठाकुर वा चौधरी कहाना प्रसन्न करते हैं। तथा अनेक ब्राह्मण अनेक पीढ़ियों से वैसे ही काम करते २ वैश्य प्रकृति वाले हो गये और अनेक निस्सन्देह शूद्र बन गये परन्तु लोक में वे सब ब्राह्मण कहाते हैं। यही दशा क्षत्रियादि के समुदायों की भी है अर्थात् उन में भी एक २ में चारो वर्ण मिले हैं परन्तु गुणकर्म और जाति ये दोनों साथ लगे हैं। इसी के अनुसार हम कह सकते हैं कि विश्वामित्र जी जाति से भी ब्राह्मण थे और जो २ ऐसे हुए वा होंगे वे सब जाति और गुणकर्म

दोनों से ब्राह्मणादि मानने चाहिये। विश्वामित्र के मन में जो ब्राह्मणत्व की वासना थी वही ब्राह्मण जाति का चिह्न है उसी की प्रेरणा से तप किया। तप करने के दो प्रयोजन हैं एक तो क्षत्रिय कुल की उत्पत्ति और संसर्ग से ब्राह्मणत्व के बाधक जो गुण थे उन को निर्बल करना और लोगों को विश्वास कराना कि हम तप करके ब्राह्मण हुए। अर्थात् विना तप किये लोक नहीं मान सकते कि ये ब्राह्मण हो गये क्योंकि यह प्रत्यक्ष है और भीतरी वासना की दृढ़ता इसी से प्रकट होती है। और यही दो प्रकार का प्रयोजन सर्वत्र वर्णविपर्यास में होना चाहिये। ऐसे ही लोक में दृष्टि देकर देखा जाय तो सब वर्णों में सब मिले हैं परन्तु विना तप किये वे उन २ उच्च वर्णों में सामिल नहीं हो सकते कि जिन वर्णों की उन में पूर्ण योग्यता विद्यमान है। इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि जाति और गुणकर्म दोनों साथ हैं अर्थात् जो वर्ण बदलते हैं उन में जन्म से ही गुणकर्मों का सूक्ष्मसंस्कार रहता है वही प्रकट हो जाता है॥

और ब्राह्मणादि वर्णों में रुधिरादि धातुओं का भेद भी होता है जिस के स्वभाव खान पान और आचरण में भेद है उस के शरीरस्थ रुधिरादि धातुओं में अवश्य भेद होगा क्योंकि खान पान और आचरण के अनुसार ही धातु बनते हैं सात्त्विक आहार से धातुओं में शुद्धि और सत्त्वगुण बढ़ता और रजोगुणी तमोगुणी आहार से धातु भी रजोगुण तमोगुणयुक्त बनते हैं इस से भेद होना सिद्ध ही है। तथा देश और वस्तु के भेद से भेद होगा इस को सभी जान सकते हैं। शरीरों का भिन्न२ होना वस्तु भेद और भिन्न२ अवकाश में होना देश भेद है। इस में सब का रुधिरादि एक नहीं। यद्यपि जलत्व जाति में जल एक वस्तु है उस में जाति भेद नहीं है। तथापि देश भेद और व्यक्ति भेद प्रसिद्ध है अर्थात् इसी देश भेद और व्यक्ति भेद के कारण सब प्रकार के जलों में गुण भेद प्रसिद्ध दीख पड़ता है। कुआ, तलाव, सरोवर, झील, नदी, नहर आदि के जलों में भिन्न २ गुण हैं। कुओं के और नदियों आदि के जल में भी एक की अपेक्षा दूसरों २ में भिन्न२ गुण वा स्वाद है। इसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्णों तथा एक२ शरीर में रुधिरादि धातुओं के गुण भिन्न २ हैं। वर्णभेद भी ब्राह्मणादि में हो सकता है। ब्राह्मण वर्ण के गुणकर्म जिन२ में मिलें गे वे अधिकांश में गौराङ्ग होंगे। सामान्य प्रकार से संख्या करके देखा जावे तो अन्य की अपेक्षा ब्राह्मण-समुदाय में गौराङ्ग अधिक निकलें गे। किन्हीं २ द्वीप वा प्रदेशों में असुर वा

दस्यु जाति के लोग वा क्षत्रियादि देश के जल वायु के कारण सभी गौराङ्ग होते हैं तो वे सब ब्राह्मण होंगे ? अर्थात् नहीं। वास्तव में यह अतिव्याप्ति दोष इस लिये नहीं है कि हम गौराङ्ग होनेमात्र को ब्राह्मणत्व का प्रयोजक हेतु नहीं मानते कि गौराङ्ग होने से ब्राह्मण होता है किन्तु (ब्राह्मणत्वे सति गौराङ्गत्वमपि तस्य प्राशस्त्यप्रतिपादकं भवति) अन्य पूर्वोक्त मुख्य गुणों से ब्राह्मणपन के सिद्ध होने पर गौराङ्ग होना भी किसी प्रकार ब्राह्मणपन की प्रशंसा बढ़ाने वाला है । यह दोष तब आ सकता जो हम गौराङ्ग होनेमात्र से ब्राह्मण मानते कि जो २ गौराङ्ग हो वह २ ब्राह्मण है । सो ऐसा तो हम मानते नहीं इस लिये कोई दोष नहीं। अन्य भी कोई दोष इस पक्ष में आवे तो इसी प्रकार समाधान कर लेना चाहिये । शारीरिक अवयवों की शुद्धि की न्यूनाधिकता होना ही वर्ण भेद का कारण है । सो इस ब्राह्मणादि के शरीरों में रुधिरादि धातुओं के भेद को सूक्ष्मदर्शी बड़े २ विद्वान् लोग ही जान सकते हैं। सात्त्विक आहार के सेवन से वैसे ही गुण वाले रसादि धातु उत्पन्न होते हैं । और धातु भेद को लेकर ही बीज के प्रधान होने का व्याख्यान हो सकता है । इस कारण ब्राह्मणादि वर्णों की जाति और गुणकर्म से व्यवस्था माननी चाहिये । शूद्र ब्राह्मण हो जाता वा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है इत्यादि कथन तो शूद्रसमुदाय में उत्पन्न हुए लोक में शूद्र करके प्रसिद्ध पुरुष को ब्राह्मणत्व दिखाने के लिये है । वास्तव में तो वह शूद्र समुदाय में उत्पन्न हुआ पूर्व गर्भाधान समय से ही किसी प्रकार ब्राह्मण के संस्कार वा गुणों से युक्त था । अर्थात् उस की माता का ब्राह्मण के साथ विवाह होने अथवा गर्भाधान के समय उस के पिता के शरीर में सत्सङ्गादि से प्राप्त हुए ब्राह्मणसम्बन्धी गुणों में उत्तेजना होने आदि से वह ब्राह्मण गुणधारी था । ऐसा ही मानने से वेदादिशास्त्रों के अनुकूल वर्णव्यवस्था हो सकती है । जो जिस समुदाय में उत्पन्न हुआ उस का वैसा ही ब्राह्मणादि पद से व्यवहार करना लोक की रीति है । वह शास्त्र के अनुकूल ब्राह्मणादिपन नहीं है । शास्त्र का सिद्धान्त जो कुछ है पूर्व संक्षेप से लिख दिया है ॥

अथ वर्णसङ्करविचारः—

तत्रायमाद्यः श्लोकः—व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥

वर्णसङ्करत्वे त्रीण्येव कारणानि वर्णानां ब्राह्मणादीनामितरेतरं व्यभिचारः—अन्यस्य भार्य्यायां अन्येन साकं संयोगस्तेन जायमानमपत्यं वर्णसङ्करत्वमापद्यते। अवेद्यावेदनं विवाहेन प्राप्तुमयोग्यास्स्त्र्यादयस्ताभिः सार्द्धं विवाहस्तेन, स्वकर्मणामध्ययनाध्यापनादीनां त्यागेन च वर्णसङ्करा जायन्ते। व्यभिचारोऽन्यस्त्रीगमनं स्वसमानजातीयानूढाभिः साकं संयोगः। समानजातीयनिषिद्धाभिः सार्द्धं विवाहेन संयोगस्त्ववेद्यावेदने सङ्गृहीतो भविष्यति। तथाऽन्यवर्णानामनुलोमप्रतिलोमानामूढानूढाभिः साकं संयोगोऽपि व्यभिचार एवास्ति। तादृशव्यभिचारेण जायमानाः सर्वे वर्णसङ्करा एव भवन्ति। सङ्करत्वं द्वैविध्यं विरुद्धगुणयोर्द्वयोस्संयोगेन जातः सङ्करः। यथा दुग्धेन साकं लवणस्य संयोगोऽनिष्टगुणोत्पादकस्तथैव शास्त्राज्ञया युक्त्या च यस्य येन साकं संयोगोऽनुचितस्तस्य तेन साकं संयोगो व्यभिचारस्तेन जायमानः पुरुषो लोके सङ्कर इत्युच्यते। स्वकर्मणां त्यागेन ये वर्णसङ्करा भवन्ति तेषां स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छतीत्यादिना वर्णनं यथावसरमस्मिन् मानवधर्मशास्त्रे कृतम्। वर्णानां व्यभिचारेणावेद्यावेदनेन च जायमानानामत्र दशमाध्याये विशिष्टं व्याख्यानं तत्र कृतम्। ते सङ्करा द्विविधाः प्रतिलोमजा अनुलोमजा वा तत्र ब्राह्मणादिभ्यः स्वस्वापेक्षया निकृष्टवर्णस्त्रीषु जायमाना अनुलोमजाः। स्वस्ववर्णापेक्षयोत्कृष्टवर्णस्त्रीषु शूद्रादिभ्यो जायमानाः प्रतिलोमजाः। बीजप्रधानपक्षं पुरस्कृत्य प्रतिलोमजापेक्षयाऽनुलोमजाः श्रेष्ठतमा गण्यन्ते। अम्बष्ठादयोऽनुलोमजाः सूतादयश्च प्रतिलोमजाः। पुनरपि द्विविधा एव वर्णसङ्कराः। आद्याश्चतुर्णामेव वर्णानामितरेतरं व्यभिचारेण जाताः

प्रतिलोमानुलोमजाः। सङ्करस्त्रीषु सङ्करपुरुषैरेव जाता द्वितीयाः। ते च व्यभिचारबाहुल्येन सदाऽवान्तरभेदैर्भिन्ना नूतना वर्द्धन्ते। तेषां कर्मानुकूलानि नामानि पूर्वजैः कृतानि क्रियन्ते च। यैर्वेदोक्तरीत्या ब्राह्मादयो विवाहा भार्यया सार्द्धं गार्हस्थ्यधर्मसेवनाय क्रियन्ते तत्रैव ब्राह्मणादय उत्तमा वर्णा भवन्ति। ये च धर्माऽधर्मविवेकं विहाय कामासक्तचेतस्त्वाद्यया कयापि साकं संयुज्यन्ते तेषामेव कुत्सितसंस्कारैर्जायमानास्सङ्करा अपि नृशंसा अनृतवादिनो ब्रह्मधर्मद्वेष्टारो भवन्ति। गुप्तव्यभिचारेण गुप्ता अपि वर्णसङ्करा भवन्ति तथा केचित्स्वस्य वर्णसङ्करत्वं जानन्तोऽपि स्वस्य प्रतिष्ठारक्षणेन स्वार्थसाधनाय गोपयन्ति। तदर्थमेतदुक्तम्—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥

एवं द्विविधानामपि सङ्कराणां परीक्षा कर्त्तुं शक्यते। अस्मिन् मानवधर्मशास्त्रे ब्राह्मणादिवर्णेभ्यो वर्णसङ्कराणां पृथक्त्वं प्रदर्शितं तेनानुमीयते पुरा स्वकर्मत्यागिनो गुप्तव्यभिचारादिना जाता वा ब्राह्मणादिषु मिलिता नासन् तदैव शुद्रा वर्णव्यवस्थाऽप्यासीदिदानीं चार्यराज्ञामसत्त्वात्तत्सर्वं विनष्टमिति॥

भाषार्थः—अब वर्णसङ्करविषयक विचार किया जाता है जिस के विषय में यह मुख्य वा प्रथम श्लोक है कि " ब्राह्मणादिवर्णों का परस्पर व्यभिचार होने

अर्थात् किसी वर्ण की स्त्री का किसी अन्य वर्ण के पुरुष से गुप्त वा प्रसिद्ध संयोग होने से तथा जिन के साथ विवाह न करना चाहिये उन भगिनी आदि के साथ विवाह कर लेने और अपने वर्ण के कर्मों को छोड़ कर अन्य वर्ण के कर्मों का सेवन करने लगने से मनुष्य वर्णसङ्कर हो जाते हैं। अर्थात् पहिले दो कर्मों से उत्पन्न होने वाले आगे वर्णसङ्कर बनते और उन के पिता माता वर्णसङ्कर नहीं होते किन्तु कुत्सित कर्म से निन्दित अवश्य हो जाते हैं। और तृतीय अपने कर्मों के त्याग से वे ही त्यागने वाले वर्णसङ्कर हो जाते हैं। वर्णसङ्कर होने में ये ही तीन कारण हैं। " ब्राह्मणादिवर्णों के अपने कर्म पढ़ने पढ़ाने आदि धर्मशास्त्रोक्त हैं। व्यभिचार यहां दो प्रकार का लेना है। एक तो अपने २ वर्ण की उन स्त्रियों से संयोग करना जिन के साथ विवाह नहीं हुआ। और द्वितीय अपने से भिन्न वर्णों की उन दोनों प्रकार की स्त्रियों से संयोग करना जिन के साथ उस पुरुष का विवाह हुआ वा न हुआ हो ऐसी अनुलोम प्रतिलोम दोनों वर्ण की स्त्रियों से संयोग करना भी व्यभिचार ही है। ऐसे व्यभिचार कर्म से उत्पन्न होने वाले सब वर्णसङ्कर कहाते हैं। सङ्कर नाम दो प्रकार के मेल का है विरुद्ध गुण वाले दो वस्तुओं वा प्राणियों के संयोग से उत्पन्न हुआ सङ्कर कहाता है। न्यायशास्त्र में लिखा है कि जैसे गुण कारण में होते हैं वैसे ही कार्य में आते हैं। इसी के अनुसार व्यभिचार करने वाले स्त्री पुरुषों में धर्म का लेश नहीं होता किन्तु चोरी लम्पटता कामासक्ति लज्जा शङ्का भय कामवश होकर क्रूर विश्वासघात और हिंसादि करने में तत्पर होते हैं। इस कारण वैसे ही गुण सन्तान में आते हैं इस से वह सन्तान द्विरङ्गा वा वर्णसङ्कर कहाता है। जैसे दूध के साथ लवण का संयोग होने से अनिष्टगुण उत्पन्न होता है वैसे ही शास्त्र की आज्ञा और युक्ति से जिस का जिस स्त्री के साथ संयोग होना अनुचित है उस पुरुष का उस स्त्री से संयोग होना व्यभिचार है उस व्यभिचार से उत्पन्न हुआ पुरुष लोक में सङ्कर कहा जाता है। अपने कर्मों के त्याग से जो वर्णसङ्कर होते हैं उन का वर्णन "जो वेद को न पढ़ के अन्य शास्त्रों में परिश्रम किया करता है वह जीवित ही अपने कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है" इत्यादि प्रकार सामान्य कर इस मानवधर्मशास्त्र के सभी अध्यायों में किया गया है। तथा वर्णों के व्यभिचार और विवाह न करने योग्य स्त्रियों के साथ विवाह करने से उत्पन्न होने वाले सङ्करों का इस दशमाध्याय में विशेष कर वर्णन

किया गया है। वे सङ्कर दो प्रकार के हैं एक अनुलोमज अर्थात् ब्राह्मणादि उत्तम वर्णस्थपुरुषों का अपने से निकृष्ट २ वर्णों की स्त्रियों से विवाह वा व्यभिचार होकर उत्पन्न हुए अनुलोमज कहाते और शूद्रादि नीच वर्णस्थ पुरुषों का अपने से ऊंच २ वर्णों की स्त्रियों से व्यभिचार होकर उत्पन्न हुए प्रतिलोमज सङ्कर कहाते हैं। बीज के प्रधान पक्ष को आगे लेकर प्रतिलोमज सङ्करों की अपेक्षा अनुलोमज संकर अतिश्रेष्ठ माने जाते हैं। और ये अनुलोमज किसी प्रकार शुद्ध संस्कारी होने से कुछ काल तक शुभ कर्मों का सेवन कर के द्विजों में संख्यात हो सकते हैं। अम्बष्ठ आदि अनुलोमज और सूतादि प्रतिलोमज हैं। तथा अन्य प्रकार से भी वर्णसंकरों के दो भेद हैं एक तो चारो वर्ण के परस्पर व्यभिचार से उत्पन्न होने वाले और द्वितीय संकर पुरुषों से भिन्न २ संकरों की स्त्रियों में उत्पन्न हुए। इन दोनों के साथ प्रतिलोम अनुलोम दोनों भेद बने रहते हैं। वे संकर जातिस्थ लोग व्यभिचार बढ़ते जाने से नवीन २ अवान्तर भेदों से बढ़ते जाते हैं उन के कर्मानुकूल नाम पूर्वजों ने किये और करते हैं।

जहां लोग स्त्री के साथ धर्मानुकूल गृहस्थ धर्म के सेवन के लिये ब्राह्म आदि विवाह वेदोक्त रीति से ठीक २ करते हैं वहीं ब्राह्मणादि उत्तम वर्ण होते हैं। और जो धर्म अधर्म के विचार को छोड़ कर चित्त से कामासक्त हो कर जिसकिसी जाति की स्त्री के साथ संयोग करते हैं उन्ही के निन्दित संस्कारों से हुए संकर लोग भी हिंसक मिथ्यावादी और वैदिक धर्म के द्वेषी होते हैं। गुप्त व्यभिचार से उत्पन्न हुए अच्छे २ घरों में गुप्त भी वर्णसङ्कर हो जाते हैं। कोई लोग अपने को वर्णसङ्कर जानते हुये भी छिपाते हैं। इस लिये मानवधर्मशास्त्र के दशवें अध्याय में यह कहा है कि—"द्वेष वा ईर्ष्या करने में तत्पर होना वा नास्तिकता को धारण करना कि जन्मान्तर वा परलोक में शुभाशुभ फलदाता कोई ईश्वर नहीं इस लिये जो मन में आवे सो धर्म वा अधर्म करना चाहिये कि जिस से हम अभी सुखी रहें ऐसी बुद्धि वाला पुरुष अनार्य कहाता और इससे विपरीत आर्य है। निष्ठुरता—कठोर बोलना वा कुछ काम न करना, क्रूरता—निष्प्रयोजन हिंसा करना तथा निष्क्रियात्मता—धर्मसम्बन्धी काम से विमुख रहना ये बातें पुरुष का नीच वा वर्णसङ्कर होना प्रकट करती हैं। अर्थात् कोई बड़ा प्रतिष्ठित भी बनता हो परन्तु उपरोक्त लक्षण मिलते हों तो जान लो कि वह नीच वा वर्णसङ्कर है। व्यभिचार से उत्पन्न हुआ पुरुष पिता के जैसे गुणकर्मों वाला हो

वा माता के तुल्य अथवा दोनों के लक्षण उस में मिलेंगे परन्तु वह नीचों से उत्पन्न हुआ सङ्कर अपने स्वभाव को कदापि छिपा नहीं सकता। भले ही मुख्य प्रशंसित कुल में उत्पन्न हुआ हो पर जो किसी नीच पुरुष के वीर्य से होगा तो उस नीच के स्वभाव को थोड़ा या बहुत अवश्य ही वह सङ्कर मनुष्य धारण करेगा,, ऐसे दोनों प्रकार के गुप्त सङ्करों की परीक्षा करनी चाहिये। इस मानव धर्मशास्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों से वर्णसंकरों का पृथक् होना दिखाया है तिस से अनुमान होता है कि पहिले इस देश में अपने कर्मों को छोड़ देने वाले ब्राह्मणादि और गुप्त व्यभिचार से हुए संकर लोग ब्राह्मणादि वर्णों में मिले नहीं रहते थे किन्तु बीच २ में परीक्षा कर २ के निकाल दिये जाते थे तभी वर्णव्यवस्था भी शुद्ध थी। और अब आर्य राजाओं के न रहने से वे सब नियम टूट गये इस से कोई वर्ण ठीक २ शुद्ध नहीं रहा इसी कारण आर्यावर्त्त देशकी बड़ी हानि हुई और होती जाती है। यही एतद्देशीय मनुष्यों को महादुःख का कारण है॥

अथापद्धर्मविचारः॥

धर्मो द्विविधः सनातनधर्मआपद्धर्मश्च स्वस्थदशायां सेव्यो वेदादिशास्त्रेषु कर्त्तव्यत्वेनोपदिष्टः सनातनो धर्मः। यदा सनातनधर्मसेवनेन निर्वाहः कर्त्तुं न शक्यते तस्मिन् काले येन प्रकारेण निर्वाहकरणाय धर्मशास्त्रकारैराज्ञा दीयते स आपद्धर्मः। यस्य यस्य ब्राह्मणादिवर्णस्य ये येऽध्यापनादिधर्मा धर्मशास्त्रे प्रकीर्त्तितास्तेषां सेवनं यदि कथञ्चिद्देशकालवस्तुभेदेनासम्भवं स्यात्तदाऽपि सर्वथाऽज्ञानान्धरूपेऽधर्मगर्त्ते न पतेत्किन्तु स्वल्पधर्मसेवनेनापि निर्वाहकरणं वरम्। यथोत्सर्गे कृते स्वयमेवापवादः प्रवर्त्तते तस्य निरोधः कर्त्तुं न शक्यते तथैवापदोऽपि स्वत एवायान्ति तदानीं कर्त्तव्यमेवापद्धर्मः सनातनधर्मस्य बाधक आपद्धर्मः स्यादिति न शङ्कनीयम्। यथा सवर्णयैकया सार्द्धं वेदोक्तरीत्या द्विजादीनां विवाहः सनातनो धर्मः। विधवानामापदि निर्वाहाय नियोग

आपद्धर्मः । तस्य नियोगस्य व्यभिचारेण भ्रूणहत्यापवादप्रचाराद्यपेक्षया प्राशस्त्यं धर्मत्वं चास्ति यदेकया सह नियोगेन सन्तानोत्पत्त्या द्वयोरपि नियुक्तयोरपत्ये प्रीतिर्वर्द्धते । विवाहापेक्षया तु नियोगस्य प्राशस्त्यं नास्ति । अतएव यो या वा विवाहेन निर्वाहं करोति तदर्थो नियोगो नास्ति । यदि नियोगं करिष्यामीति मत्वा काचित्स्वपतिं घातयेत्तदापि नियोगकरणं दूषितं न भवति यदि नियोगो न स्यात्तदाऽन्यपुरुषेण साकं धावनमत्यापि पतिं घातयितुं शक्नोति । कदाचिद्दूषणमेव स्यात्तदापि नियोगस्याकर्त्तव्यत्वं न सम्भवति । यथा मृगभक्षणादिभयेन यवगोधूमादीनां वपनं न निरुध्यते तथैवात्रापि दोषनिवृत्तयेऽन्ये उपायाः कर्त्तव्या आपद्धर्मास्तु विपत्समये सेव्या एव नियोगस्त्वत्र दृष्टान्तरूपोऽस्ति । ब्राह्मणादयो वर्णा यदा स्वस्वकर्मभिर्जीविकां कर्त्तुमशक्तास्तदा तैः स्वस्मान्निकृष्टवर्णस्य कर्मभिर्जीविका कार्या । जीवेत् क्षत्रियधर्मेण सह्यस्य प्रत्यनन्तरः । उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥

कृषिं यत्नेन वर्जयेदिति तु कस्यचिन्मतं न मनोः । एवमन्यैः क्षत्रियादिभिरपि वैश्यादिवृत्त्याऽऽपदि निर्वाहः कार्यः ॥

आपत्कालविषये महाभारत आपद्धर्मानुशासननामकमेकं शान्तिपर्वान्तर्गतमवान्तरं पर्वास्ति तत्र चापद्धर्माः स साधनाः सोदाहरणदृष्टान्ताः प्रायशो विस्तरेण व्याख्याता दृश्यन्ते । तत्रायं सारः आपत्काले निर्वाहाय मनुष्यो नीतिज्ञो लोकव्यवहारकुशलः स्यात्तदा स स्वस्य सुखेन निर्वाहं कर्त्तुं शक्नोति । यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः । मायाचारो मायया

वर्त्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ अयमप्यापद्धर्म एवास्ति ब्राह्मणादिवर्णैः परधनहरणमन्यायेन कस्यापि दुःखदाननिष्ठां च सदा विहाय वेदोक्ते पञ्चमहायज्ञादौ नित्ये गर्भाधानादौ नैमित्तिके च कर्मणि प्रीतिं पालयद्भिर्मानसवाचिककायिकान् दशदोषान् विहाय दशलक्षणकं धर्मं च नित्यं सेवमानैः केनापि जीविकाहेतुना न्यायेनैवापदि निर्वाहः कार्यः ।

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दशजीवनहेतवः ।

अत्र दशसुजीवनहेतुषु सर्वे धर्मानुकूला न सन्ति किन्तु—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

भृतिः क्रयान्तर्गतत्वाद्धर्म्या । शिल्पं गोरक्ष्यं कृषिश्च कर्मयोगेऽन्तर्भवन्ति। तस्मात्तेषामपि धर्म्यत्वम् । सेवा धृतिर्भैक्ष्यं चेति त्रयं धर्मविरुद्धमतएतत्त्रयं यथासम्भवमापद्यपि ब्राह्मणादिभिर्न सेव्यम् । शिल्पकृष्यादिकं केचिद्ब्राह्मणादीनामकर्त्तव्यं कथयन्ति तच्च न सम्यक् पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां धर्म्यत्वप्रतिपादनस्य मनुना स्वयमेव कृतत्वात् । यदि केचिद्विद्याभ्यासादिकर्मणि हानिं दृष्ट्वा शिल्पकृष्यादिकस्याकर्त्तव्यत्वं प्रतिपादयन्ति तेन च शिल्पादीनामधर्मत्वं नायातम् । अनापदि विद्याभ्यासादिना यदा ब्राह्मणादिभिर्निर्वाहः कर्त्तुं शक्यते तदा तैः शिल्पादिकं न सेव्यमिति तु सर्वानुमतम् । आपत्काले तु जीवनार्थं ब्राह्मणादिवर्णैः सत्याद्याचरणपुरस्सरं । शिल्पादिकसेवनमपि धर्म्यमेवास्तीति सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब आपद्धर्मविषय का विचार किया जाता है । धर्म दो प्रकार का है एक सनातन धर्म और दूसरा आपद्धर्म कहाता है । स्वस्थदशा में सेवने

योग्य वेदादि शास्त्रों में कर्त्तव्य मानकर मनुष्यों के लिये कहा गया सनातनधर्म है। जब सनातनधर्म के सेवने से मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता वा सनातन धर्म के सेवन में असमर्थ हो जाता है उस समय में जिस प्रकार निर्वाह करने के लिये धर्मशास्त्रकारों ने आज्ञा दी है वह आपद्धर्म है। जिस २ ब्राह्मणादि वर्ण के जो २ अध्यापनादि धर्म सम्बन्धी कर्म धर्म शास्त्र में कहे हैं उन का सेवन करना यदि किसी प्रकार देश काल वा वस्तु के भेद से असम्भव हो तो भी सर्वथा अज्ञानान्धकाररूप अधर्म के गढे में न गिरना चाहिये किन्तु आपद्धर्मरूप स्वल्पधर्म के सेवन से भी निर्वाह करना अच्छा है। जैसे उत्सर्ग करने पर अपवादस्वयमेव प्रवृत्त होता है अर्थात् सामान्यकर किसी बात के कहने पर विशेषता स्वयमेव खड़ी हो जाती है जैसे धर्मशास्त्र वा वैद्यकशास्त्र में सब काल में सब के लिये सामान्य कर दिन में सोने का निषेध है। परन्तु अपवादरूप से विधान करने पड़ा कि रात को जागने की दशा में ग्रीष्म ऋतु और अजीर्णतादि रोगों में नियत काल तक मनुष्य को दिन में सोना चाहिये। ऐसे अपवादों को कोई रोक नहीं सकता अर्थात् जहां सामान्य की प्रवृत्ति होना दुस्तर हो जाती है वा हो सकने पर उस से विशेष हानि होना सम्भव होता है तब अपवाद दशा खड़ी की जाती है वा करने पड़ती है। वैसे ही आपत्काल स्वयमेव आया करते हैं उस समय जो कर्त्तव्य है वही आपद्धर्म है। सनातनधर्म में बाधा डालने वाला आपद्धर्म हो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। जैसे अपने वर्ण की एक स्त्री के साथ द्विजों का विवाह होना सनातनधर्म है और विधवाओं का आपत्काल में नियोग होना आपद्धर्म है। उस नियोग की गर्भहत्या वा लोक में व्यभिचार द्वारा बुराई फैलने आदि की अपेक्षा उत्तमता और धर्म मानना हो सकता है कि जो एक स्त्री के साथ नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति होने से नियुक्त दोनों स्त्रीपुरुषों की एक सन्तान में प्रीति बढ़ती है। विवाह की अपेक्षा वा विधवा स्त्री को ब्रह्मचर्य (पातिव्रत) धर्म धारण करके जन्मव्यतीत कर देने की अपेक्षा नियोग की उत्तमता नहीं है। इसी कारण जो स्त्री वा पुरुष सनातनधर्म के सेवन से निर्वाह कर सकता है उस के लिये नियोग नहीं है। यदि नियोग कर लूंगी ऐसा मान कर कोई स्त्री अपने पति को मार डाले तो भी नियोग करना दूषित नहीं होता क्योंकि जिस बुराई से बचने और इष्ट की प्राप्ति के लिये जो काम किया जाता है उस से वैसा प्रयोजन सिद्ध न करके कोई विरुद्ध काम करे तो वह करने वाले

का दोष है। जैसे बाल काटने के लिये क्षुरा बनाया गया है उस से कोई हाथ आदि काटले तो यह क्षुरा के बनने में वा बनाने वाले का दोष नहीं किन्तु यह उसी काटने वाले कर्त्ता का दोष है। इसी प्रकार नियोग जिस प्रयोजन के लिये है उस से विरुद्ध करे तो यह नियोग का दोष नहीं किन्तु उस स्त्री का दोष है। क्योंकि यदि नियोगरूप अवलम्ब उस को ज्ञात न हो तो वह अन्य पुरुष के साथ भाग जाने आदि बुद्धि से भी पति को मार सकती वा उस से विरोध कर सकती है। और कदाचित् नियोग करने में कोई दोष ही हो तो भी नियोग की अकर्त्तव्यता नहीं सिद्ध हो सकती। जैसे हरिण चर जाने के भय से जौ गेंहूं आदि का बोना नहीं रोक दिया जाता वैसे यहां भी दोष के भय से नियोग को नहीं रोक सकते किन्तु जैसे हरिणों से खेत बचाने के अनेक उपाय किये जाते हैं वैसे नियोग आदि आपत्काल के धर्म में भी जो २ दोष जान पड़े उस को हठाने का उपाय करना चाहिये और विपत्ति के समय में आपद्धर्म का तो सेवन अवश्य करना चाहिये नियोग यहां केवल आपद्धर्म के उदाहरण में दृष्टान्तरूप से लिखा है। ब्राह्मण द्विवर्ण जब अपने २ कर्मों से जीविका करने में असमर्थ होते हैं तब उन को अपने २ से नीचे वर्ण के कर्मों से जीविका करनी चाहिये यह भी आपद्धर्म है सो लिखा भी है कि "ब्राह्मण आपत्काल में क्षत्रिय के धर्म से जीविका करे क्योंकि यही उस का समीपी है। यदि अपने और क्षत्रिय के दोनों धर्म से जीविका न कर सके तो खेती और गोरक्षा आदि वैश्य की जीविका से निर्वाह करे।" और खेती को ब्राह्मण यत्न से छोड़दे यह कहना किसी अन्य का मत है किन्तु मनु से का नहीं। खेती करना ऐसा बुरा नहीं कि जैसा लोग मानते हैं पाराशर स्मृति में खेती का विधान लिखा है। तथा अन्य क्षत्रियादि को भी वैश्यादि की वृत्ति से आपत्काल में निर्वाह करना चाहिये। आगे आपत्काल के विषय पर महाभारत में शान्तिपर्वान्तर्गत आपद्धर्मानुशासन नामक एक अवान्तरपर्व है वहां आपत्काल में सेवने योग्य धर्मों का साधन और दृष्टान्तों के सहित प्रायः विस्तार से व्याख्यान किया है। उस में सारांश यह है कि आपत्काल में निर्वाह के लिये मनुष्य को नीतिज्ञ और लोक के व्यवहार में चतुर होना चाहिये तब वह अपना सुख से निर्वाह कर सकता है। उसी आपद्धर्म के प्रकरण में यह भी लिखा है कि "जिस के साथ जो मनुष्य जैसा वर्त्ताव करता है उस के साथ वैसा ही वर्त्ताव करना धर्म है। अर्थात् छली कपटी वा दुष्ट मनुष्य के साथ छल कपट और

दुष्टता करना तथा श्रेष्ठ सज्जन धर्मात्मा पुरुषों से धर्मानुकूल वर्त्तना यह दोनों प्रकार का धर्म है।" यद्यपि छल कपटादि करना वास्तव में धर्म नहीं तथापि छल कपटादिरूप काटों से धर्माङ्कुर की रक्षा होती हो तो वे धर्म के सहकारी कारण होने से धर्म मानें जावेंगे। यह भी आपत्काल में ही धर्म है सदा नहीं। "पराया धन हर लेना और अन्याय से किसी को दुःख देने की निष्ठा को सदा छोड़ कर वेदोक्त पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्म और गर्भाधानादि नैमित्तिक कर्म में प्रीति रखते हुए मन वाणी और शरीर सम्बन्धी दश दोषों को छोड़ कर दश लक्षण वाले दयादि नामक धर्म का नित्य नियम से सेवन करते हुए ब्राह्मणादि वर्णों को न्यायपूर्वक ही किसी प्रकार की जीविका से आपत्काल में निर्वाह करना चाहिये"। विद्या, शिल्पकारी, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, किसी प्रकार की दुकान करना, खेती, सन्तोष, भिक्षा मांगना, व्याज सूद लेना ये दश काम जीविका अर्थात् अन्न धनादि की प्राप्ति के हेतु हैं। इन दश जीविका के हेतुओं में से सब धर्मानुकूल नहीं हैं किन्तु—दायनाम अपना भाग वा हिस्सा दुकान आदि का लाभ तथा बेंचना, लड़ाई में जीतना, सूद लेना, कृषि गोरक्षा और शिल्पकारी ये तीनों कर्मयोग में लिये जायंगे, अच्छा दान लेना ये ही सात प्रकार की प्राप्ति धर्मानुकूल हैं। क्रय के अन्तर्गत होने से भृति भी धर्मानुकू है। सेवा, सन्तोष कर बैठ रहना और भिक्षा मांगना ये तीनों धर्मानुकूल नहीं किन्तु धर्म से विरुद्ध हैं। यद्यपि सेवा और भिक्षा मांगने की अपेक्षा धैर्य रख कर बैठ रहना अच्छा है तथापि निकम्मापन से लेकर किसी के वस्तु को भोगना अच्छा नहीं। इसी कारण आपत्काल में भी ब्राह्मणादि को इन तीनों का सेवन नहीं करना चाहिये। शिल्पकारी और खेती आदि कर्मों को कोई लोग ब्राह्मणादि के करने योग्य नहीं कहते सो ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से मनु जी ने स्वयमेव उन का धर्मानुकूल होना स्वीकार किया है। अर्थात् इन कर्मों का करना अधर्म नहीं। यदि कोई लोग ब्राह्मणादि के विद्याभ्यासादि बड़े२ कर्मों में हानि देख कर शिल्प वा खेती आदि के न करने का प्रतिपादन करते हैं तो ठीक है जो बड़ा काम कर सकता है जिस से अपना वा संसार का बड़ा उपकार होता है तो उस को छोटा काम न करना चाहिये। परन्तु बड़े काम से निर्वाह करना किसी कारण नहीं हो सकता तो छोटे से निर्वाह करना चाहिये इस से शिल्पकारी वा खेती आदि का अधर्म होना सिद्ध नहीं होता। स्वस्थ दशा में जब ब्राह्मणादि लोग विद्याभ्यास

और अध्यापनादि अपने २ कर्मों से निर्वाह कर सकते हैं तब उन को शिल्पवा खेती आदि से जीविका नहीं करनी चाहिये यह सर्व सम्मत है और आपत्काल में खेती आदि करना भी धर्मानुकूल ही है यह सिद्धान्त पक्ष जानो। भिक्षा मांगना किसी की नौकरी करना सन्तोष कर बैठ रहना, गाड़ी या इक्का चलाना अनेक प्रकार के छल प्रपञ्च रचना इत्यादि की अपेक्षा खेती और शिल्पादि से निर्वाह करना बहुत ही उत्तम है। कोई लोग खेती करने में जीवहिंसा मानते हैं परन्तु खेती की अपेक्षा गाड़ी इक्का चलाने आदि में हिंसा अधिक है। तथा नौकरी की अपेक्षा खेती में स्वतन्त्रता और प्रसन्नता भी अधिक है॥

अथ दशमाध्यायस्थप्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षणम्

प्रथमं तावत् षडशीतितमपद्यादारभ्य चतुर्णवतितमपद्यावधि नव पद्यानि प्रक्षिप्तानि भान्ति। मिष्टादिरसयुतगुडादिद्रव्याणां गवाश्वादिपशूनां रक्तवस्त्राणां शाणक्षौमाविकानामरक्तानामपि विक्रये कोदोषइति कारणं न दृश्यते। श्वेतवस्त्राणामारण्यपशूनां विक्रये च किमर्थं दोषो नास्ति ? इति सएव श्लोकनिर्माता प्रष्टव्यः। यदा चारण्यांश्च पशून् सर्वानित्यादिना वन्यपशुविक्रयेऽपि दोषो दर्शितस्तदा पशवो ये च मानुषा इत्यत्र मानुषविशेषणस्य वैयर्थ्यमापन्नम्। अयं च पारस्परिको विरोधोऽप्येषां पद्यानां प्रक्षिप्तत्वं द्योतयति। कस्यचिद् वस्तुन उपार्जनमेवाधर्मात्कर्तुं शक्यते तस्य विक्रयणमवश्यमधर्मजनकं तद् विक्रयेण स्वजातितः पतनमपि संगतं भवति यथा मांसस्य। लाक्षालवणयोर्विक्रये कोऽसौ महान्दोषो येन सद्यः पततीति न पश्यामः। यदि कस्यचिद्वस्तुनो विक्रये शरीरस्य मालिन्यं स्वकर्मणां च विशिष्टस्त्यागो जायते तर्हि तस्य वस्तुनस्तैलादेर्विक्रयो यावच्छक्यं न कार्यः। परन्तु तिलानां विक्रये कोऽपि दोषो न लक्ष्यते। महाभाष्ये प्युक्तम्–"तैलं न विक्रेतव्यं मांसं

न विक्रेतव्यमिति व्यपवृक्तं च न विक्रीयतेऽव्यपवृक्तं गावः सर्व-पाश्च विक्रीयन्ते।" यद्यप्यत्र तिलविक्रयस्य विधानं नास्ति तथापि गवां विक्रयो विधीयते स च पशवो ये च मानुषा इत्यादिना सार्द्धं विरुध्यते। तेनानुमीयते महाभाष्यनिर्माणकाले तानि पद्यानि मानवधर्मशास्त्रे नासन्नपितु तदनन्तरं केनचित्प्रक्षिप्तानीति। एवमिमानि सर्वाणि पद्यानि विरुद्धान्यसंगतानि च सन्ति तस्मात्प्रक्षिप्तानीति चिन्त्यं बुधैः॥

तदग्रएकशततमपद्यादारभ्याष्टौ पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतीयन्ते। अत्र च निन्दितप्रतिग्रहस्य प्रशंसा प्रदर्शिता सा च पूर्वापरतो विरुध्यते। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति। प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः। इत्यादिरीत्या शुद्रप्रतिग्रहोऽपि दूषितः। पुनरत्रोच्यते-पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते। इत्येतत्कथनं कथमुपपद्येत। यदि ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यतीति सत्यं तदा पवित्रं दुष्यतीति मन्तव्यम्। ब्राह्मतेजसो विघातएव पवित्रस्य दूषितत्वम्। एवं पवित्रं दुष्यति तदा निषेधो व्यर्थः। यदि पवित्रं न दुष्यति तर्ह्यपवित्रं तु दूषितमेव पुनः किं दुष्यति?। युक्तिविरुद्धं चैतत्। वस्तुतः पवित्रमेव दुष्यति यच्चापवित्रं तदेव पवित्रं सम्पद्यते। यदि पवित्रं न दुष्येत्तदा ब्राह्मणाद्युच्चवर्णानां स्वजातितो दुष्कर्मादिना पातित्यमपि न स्यात्। तदा च शुभाशुभकर्मविशेषसेवनाद् ब्राह्मणादिवर्णानामुत्कर्षापकर्षप्रतिपादनपराणि "शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्" इत्यादीनि धर्मशास्त्रवचांसि व्यर्थानि स्युः। तस्मात्प्रक्षिप्तानि तानि पद्यानि। पौराणिका इतिहासा अप्यत्रासंगताः। आपत्काले येन केन प्रकारेण प्राणरक्षा मनु-

ष्येण कर्त्तव्येति कथनं कथमपि संगच्छते न सर्वथा। किमपि कर्म तादृशं सम्भवति यत्करणापेक्षया प्राणत्यागस्यैव प्राशस्त्यं शास्त्रकारैरुक्तं युक्त्या च सम्भवति। मनुष्यमांसभक्षणापेक्षया प्राणत्याग एव वरः। न धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोरित्यादिप्रकारेण धर्मशास्त्रेषूक्तम्। तस्मादापत्कालेऽपि मनुष्येण विशिष्टाधर्मस्योपार्जनं न कार्यमपितु तदानीं स्वल्पधर्मसेवनेन निर्वाहः कार्यइत्याशयः। एवमिमान्यप्यष्ट पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति। अस्मिन्नध्याये एकत्रिंशदुत्तरशतं पद्यानि सन्ति तेषु सप्तदश प्रक्षिप्तान्यवशिष्टानि ११४ चतुर्दशोत्तरशतं पद्यानि शुद्धानि ज्ञातव्यानीति शम्॥

भाषार्थः—अब दशमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा करते हैं। प्रथम छयाशी से चौरानवे तक नव श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। मीठे आदि रस से युक्त गुडादि द्रव्यों गौ आदि पशुओं रंगे वस्त्रों और टसरी रेशमी और ऊनी वस्त्रों के वेंचने में क्या दोष है ? इस का कुछ कारण नहीं दीखता। श्वेतवस्त्र और वन के पशु वेंचने में दोष क्यों नहीं है ? यह उसी श्लोक बनाने वाले से पूछना चाहिये॥ जब वन के पशु वेंचने का भी निषेध किया तो जो मनुष्य सम्बन्धी पशु हैं जैसे गौ घोडादि। यहां मानुष विशेषण व्यर्थ पड़ता है। यह परस्पर का विरोध भी इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने को प्रकट करता है। किसी वस्तु का उपार्जन अधर्म से कर सकते हैं उस का वेंचना अवश्य अधर्म का उत्पादक होगा उस वस्तु के वेंचने से अपनी जाति से पतित होना भी ठीक संगत हो जाता है जैसे मांस का वेंचना जाति से पतित होने का हेतु है। परन्तु लाख और लवण के वेंचने में ऐसा बड़ा दोष कौन है ? जिस कारण शीघ्र पतित हो जाता हो यह नहीं दीखता। यदि किसी वस्तु के वेंचने में शरीर की मलीनता और अपने वेदोक्त सन्ध्यादि कर्मों का विशेष त्याग वा हानि होती हो तो उस तेल आदि वस्तु को यावच्छक्य नहीं वेंचना चाहिये। परन्तु तिल वेंचने में कोई दोष नहीं दीखता। व्याकरण महाभाष्य में भी कहा है कि "तेल और मांस न वेंचना चाहिये सो पृथक् निकाला हुआ तेल और मांस ही नहीं वेंचा

जाता परन्तु जिस में तेल और मांस व्यापक वा मिला है ऐसे तेल के उपादान सरसों वा गौ आदि पशुओं के बेंचने में वह दोष नहीं माना जाता अर्थात् सरसों वा गौ आदि के बेंचने से तेल और मांस का बेंचना नहीं लिया जाता ” यद्यपि यहां तिलों के बेंचने की आज्ञा स्पष्टतः नहीं है तथापि तेल के बेंचने का निषेध दिखाने और जिस से तेल निकलता है उस का विधान जताने से तिल के बेंचने का विधान आ जाता है। जैसा निकृष्ट तिल का बेंचना यहां कहा है वैसा महाभाष्यकार को भी इष्ट होता तो तिल के बेंचने का भी निषेध करते। यदि कोई कहे कि यह व्याकरण है उस में धर्मशास्त्र की व्याख्या क्यों होगी सो नहीं। हमारे यहां सब ऋषियों ने जिस २ विषय के पुस्तक बनाये हैं उन सब में प्रसंगवशात् धर्म अधर्म का भेद वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार अवश्य दिखलाया है। और गौओं के बेंचने की तो स्पष्ट आज्ञा है सो (पशवो ये च०) ग्राम के पशु न बेंचने चाहिये इत्यादि कथन के साथ विरुद्ध पड़ता है। इस से अनुमान होता है कि महाभाष्य बनने के समय वे उक्त श्लोक मानवधर्मशास्त्र में नहीं थे किन्तु पीछे किसी ने मिलाये हैं। इस प्रकार ये उक्त नौ श्लोक विरुद्ध और असंगत होने से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं बुद्धिमानों को विचारना चाहिये ॥

तिस के आगे एकसौ एकवें श्लोक से लेकर आठ श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इन श्लोकों में निन्दित प्रतिग्रह अर्थात् दान लेने की प्रशंसा दिखाई है सो पूर्वापर से विरुद्ध है। चतुर्थाध्याय में लिखा है कि “ उचित दान लेने से भी ब्राह्मण का ब्रह्मतेज घट जाता है” तथा इसी दशवें अध्याय में लिखा है कि “दान लेना नीच वा निकृष्ट काम है और दान लेने वाले ब्राह्मण का परलोक बिगड़ जाता है” इत्यादि प्रकार अनेक स्थलों में अनेक वार कहने से शुद्ध प्रतिग्रह को भी दान न लेने की अपेक्षा दूषित ठहराया है। फिर यहां लिखा है कि “पवित्र को दोष लगता है यह धर्मानुकूल नहीं बनता ” यह कहना कैसे ठीक होवे ?। यदि निकृष्टदान लेने आदि दुष्टकर्मों से ब्राह्मण का तेज घट जाना सत्य है तो पवित्र दूषित होता है यह मानना चाहिये क्योंकि दुष्टकर्मों से ब्राह्मणपन का बिगड़ना ही पवित्र का दूषित होना है। इस प्रकार जब पवित्र दूषित होता है तो यह कहना कि “ पवित्र को दोष नहीं लगता ” व्यर्थ वा निरर्थक हो गया। यदि पवित्र को दोष नहीं लगता तो किस को लगता है ?

क्योंकि अपवित्र तो स्वयमेव दूषित ही है फिर कौन दूषित होता है ? । और यह युक्ति से भी विरुद्ध है कि जो पवित्र को दोष न लगे। वास्तव में पवित्र ही दूषित होता और जो अपवित्र है वही पवित्र बन जाता है। यदि पवित्र दूषित न हो तो ब्राह्मणादि ऊंच वर्णों का दुष्टकर्मादि के सेवन से अपने ऊंच अधिकार वा जाति से पतित होना भी न बन सके और ऐसा होने पर शुभ अशुभ विशेष कर्मों के सेवन से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तमता निकृष्टता जताने में तत्पर "शूद्र ब्राह्मण हो जाता और ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है" इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य व्यर्थ हो जावेंगे । इस कारण वे उक्त श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन श्लोकों में पौराणिक इतिहास भी असंगत हैं क्योंकि यद्यपि आपत्काल में जिस किसी प्रकार प्राण की रक्षा मनुष्य को करनी चाहिये यह कहना किसी प्रकार ठीक है किन्तु सर्वथा ठीक नहीं है । कोई कर्म ऐसा हो सकता है कि जिस को करने की अपेक्षा प्राण का त्यागदेना ही शास्त्रकारों ने उत्तम कहा और युक्ति से भी ठीक जान पड़ता है । आपत्काल में भी मनुष्य का मांसभक्षण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग करके मर जाना ही अच्छा है । तथा महाभारतादि में लिखा है कि "अपना जीवन बचाने के लिये भी धर्म को न त्यागे अर्थात् शरीर भले ही नष्ट हो जावे मर जाना स्वीकार कर ले पर धर्म का त्याग कदापि न करे " इत्यादि प्रकार धर्मशास्त्रों में प्रायः प्रमाण मिलते हैं। वेदधर्मानुयायी आर्य लोगों का सनातन काल से यही सिद्धान्त दृढ़ चला आता है कि शरीर तो वैसे भी घटादि के समान अनित्य हैं पर धर्म नित्य है जो मरने पश्चात् जीवात्मा के साथ जाकर जन्मान्तर में भी सुख पहुंचाता है फिर अनित्य वस्तु की रक्षा के लिये नित्यधर्म का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये । और जो ऐसा करता है उस से अधिक मूर्ख वा नास्तिक और कौन होगा ?। वेदविरोधी मनुष्यों का प्रायः यही सिद्धान्त रहता है कि किसी प्रकार का अधर्म क्यों न हो पर प्राण की रक्षा सर्वोपरि है इसी लिये उन का नाम असुर है इस लिये आपत्काल में भी मनुष्य को विशेष अधर्म का उपार्जन न करना चाहिये किन्तु उस समय थोड़े धर्म के सेवन से निर्वाह कर्त्तव्य है । इस प्रकार ये आठ श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं । इस दशवें अध्याय में सब एकसौ इकत्तीश श्लोक हैं जिन में सत्रह प्रक्षिप्त और एकसौ चौदह ११४ श्लोक शुद्ध जानने चाहिये ॥

अथ प्रायश्चित्तविवेचनम् ॥

प्रायश्चित्तमिति कर्मविशेषस्य नामास्ति यच्चेतसि दुष्कर्मसेवनाज्जायमानवैषम्यस्य निवृत्त्यर्थं वेदविदां विदुषामादेशाज्जनैरनुष्ठीयते तत्प्रायश्चित्तं कर्म । प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति वार्तिकेन सुडागमे कृते शब्दोऽयं निष्पद्यते । तथा चोक्तम्—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥
प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।
पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

अत्र पर्षदा कार्यत इति वचनाद्राजसभयेव वेदविद्विद्वत्सभया देशकालवस्तूनि समीक्ष्य कर्तुमाज्ञाप्यमानं कर्म प्रायश्चित्तमिति निश्चीयते । राजदण्डवत्प्रायश्चित्तमप्येकविधो दण्डभोग एवास्ति । अतएव यथा न्यायेन प्रापितराजदण्डभोगानन्तरं तस्य दुष्कृतकर्मणः पुनरस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा फलं न प्राप्यते किन्तु तस्मात्पापात्स कर्ता मुच्यते। तथैव प्रायश्चित्तेऽपि यथार्थतयाऽनुष्ठिते तदपराधात्स प्राणी विमुच्यते। ये तस्करदस्य्वादयः पापानि कृत्वा दण्डभोगं नेच्छन्ति तेभ्यो बलात्कारेण राजा दण्डं दत्वा निर्बलान्धार्मिकान् रक्षेत् । ये च धर्मात्मानः सन्ति ते कथञ्चिदज्ञानाद्दुःसङ्गाद्वा पापं कुर्युरनन्तरं तस्य पापकर्मत्वमालोच्य यदि मनो ग्लायात्तर्हि विद्वत्सम्मत्या तैः स्वयमेव दण्डभोगरूपं प्रायश्चित्तमाचरणीयमिति प्रायश्चित्तराजदण्डयोर्भेदः ।

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥

इत्थं त्रय एव प्रकाराः प्रायश्चित्तार्हाणाम्। तस्य च द्वौ भेदौ यदकामतोऽज्ञानाद्वा दुष्कृतं सेव्यते कर्त्तव्यं वा त्यज्यते तत्रेतरापेक्षया प्रायश्चित्तं स्वल्पमेव क्रियते यच्च कामतो ज्ञानाद्वा क्रियते तत्र पूर्वापेक्षया प्रायश्चित्तबाहुल्यं शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यते। ज्ञात्वा क्रियमाणं कर्म यादृशं संस्कारदूषकं भवति न तादृशमज्ञानात्कृतं भवितुमर्हति। इदमेव तयोः प्रायश्चित्तभेदस्य कारणम्। यत्रैकैकस्य महापातकस्योपपातकस्य वाऽनेके प्रायश्चित्तभेदाः प्रदर्शितास्तत्राधिकारिभेदो देशभेदः कालभेदश्च कारणम्। सर्वावस्थासु सर्वस्मिन् काले सर्वस्मिन् देशे वा सर्वैरेकविधं प्रायश्चित्तं कर्त्तुं न शक्यते। यथा यादृशं दुःखं यूना षोढुं शक्यते न तादृशं वृद्धेन। एवं देशकालयोरपि भेदो व्याख्येयः। दीर्घरोगिणापि स्वस्थवन्निर्बलेन बलवद्वा दुःखं षोढुमशक्यम्॥

मनुष्येण यादृशं कर्म सेव्यते तादृश्यएवान्तःकरणे वासनाः सञ्चीयन्ते तासामेव सञ्चितपापपुण्यत्वमस्ति। अर्थान्मन एव पापपुण्ययोरधिष्ठानमस्ति। यथौषधसेवनेन रोगाणां निवृत्तिः कर्त्तुं शक्यते तथैव प्रायश्चित्तेन निकृष्टसंस्काररूपपापानां निवृत्तिर्जायते। यथा वा दीपेनान्धकारस्य रागेण द्वेषस्य विद्ययाऽज्ञानस्य निवृत्तिर्भवति तथैव प्रायश्चित्तेन पापानाम्। तथा चोक्तं योगभाष्ये—

"योह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयीगतिः कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। योगभा० पा० २।१३।" इत्थमनियतविपाकस्यैव दुष्कर्मणो दण्डभोगरूपौषधेन निवारणाय विशेषेण प्रायश्चित्तानि

सन्ति । यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं नियतविपाकं कर्म तदसाध्यरोगवत्प्रायश्चित्तेनापि नैव निवर्त्तते। तत्रापि क्रियमाणं प्रायश्चित्तं निष्फलं न भवति। यथा तदेव दुःखं बलवन्तं निर्बलं च भेदेन दुःखयति। यथा वा यादृशं दुःखमविद्वांसं व्याप्नोति न तादृशं विद्वांसम्। तथैव कृतप्रायश्चित्तस्य प्रबलं मनो दुःखं षोढुं शक्नोति। अन्यच्च पुण्यसञ्चयरूपप्रायश्चित्तस्य शुभं फलं भविष्यतीत्यनुसन्धाय यथावसरं सर्वैःप्रायश्चित्तं सेव्यम् । अयमेव धर्मशास्त्रकाराणामाशयः । तच्चैतत्प्रायश्चित्तं दण्डभोगरूपमेवास्ति। यदि कानिचिदीदृशानि नवानि कर्माणि कश्चित्कुर्याद्येषां प्रायश्चित्तं धर्मशास्त्रे विशिष्टं नोक्तं तदासामयिकविद्वद्भिः प्रायश्चित्तं देशकालवस्त्वनुकूलं प्रकल्पनीयम् । तथा चोक्तम्—मनुनैवैकादशाध्याये—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥

एतदर्थमेव द्वादशाध्याय उक्तम्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ इत्यादि ॥

यच्च यस्मिन्नपराधे प्रायश्चित्तं धर्मशास्त्रकृद्भिरुक्तं तदपि विद्वत्सभासम्मत्यैव सर्वैरनुष्ठेयम् । जलस्थलादीनां दर्शनस्नानादिकं मानवधर्मशास्त्रानुकूलं प्रायश्चित्तं नास्ति किन्तु शास्त्रविरुद्धं नूतनं कल्पनं तत् । अत्र संक्षेपेण प्रायश्चित्तविषय उक्तं विशिष्टं व्याख्यानं भाष्ये द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से प्रायश्चित्तविषय का विवेचन किया जाता है। प्रायश्चित्त यह शब्द कर्म विशेष का नाम है कि दुष्टकर्मों के सेवन से उत्पन्न हुए

व्याकुलता वा विषमता की निवृत्ति के लिये वेदवेत्ता विद्वानों की आज्ञा से मनुष्य जिस का सेवन करते हैं वह प्रायश्चित्त कर्म कहाता है। प्राय शब्द से परे चित्त को सुट् का आगम होकर यह प्रायश्चित्त शब्द बनता है सो इस का ऐसा ही विद्वानों ने लाक्षणिक अर्थ भी माना है कि "प्रायनाम तप और चित्त नाम निश्चय करके युक्त कर्म का नाम प्रायश्चित्त है। चित्त को सम करने के लिये अर्थात् चित्त की विषमता मेटने के लिये जो दिया वा बताया जाता और जिस का सेवन विशेष आन्दोलन के साथ विद्वानों की सभा कराती है वह कर्म प्रायश्चित्त कहाता है।" इन श्लोकों में सभा के कराने की आज्ञा दिखाने से ज्ञात होता है कि राजसभा के तुल्य वेदवेत्ता विद्वानों की सभा ने देश कालादि का विचार करके करने को कहा कर्म प्रायश्चित्त कहाता है। अर्थात् राजदण्ड के तुल्य प्रायश्चित्त भी एक प्रकार का दण्डभोग है। इसी कारण यदि न्यायपूर्वक अपराधानुकूल ही दुष्टकर्म का फल राजदण्ड भोग लिया हो तो पीछे इस जन्म वा जन्मान्तर में दुष्टकर्म का बुरा फल नहीं मिलेगा। किन्तु वह अपराधी उस पाप से फिर छूट जाता है। वैसे ही यथार्थ रीति से प्रायश्चित्त कर लेने पर वह अपराधी उस पाप से छूट जाता है जो चोर डाकू आदि पापकर्म करके उस का दुःखफल भोगना नहीं चाहते उन को राजा बलपूर्वक दण्डादि द्वारा वश में रख कर निर्बल धर्मात्माओं की रक्षा करे। और जो धर्मात्मा हैं वे किसी प्रकार अज्ञान वा दुःसङ्ग में पड़ के भ्रम से पाप कर लेवें अर्थात् उन से बुरा काम बन पड़े तो पीछे उस की बुराई को शोचने से यदि मन ग्लानि को प्राप्त हो तो विद्वानों की सम्मति से उन को स्वयमेव दण्डभोगरूप प्रायश्चित्त का सेवन कर लेना चाहिये वा यों कहिये कि धर्मात्मा लोग बुरा काम बन जाने से स्वयमेव उस का दुःख फल भोग कर शुद्ध होना प्रसन्न करते हैं। यही प्रायश्चित्त और राजदण्ड में भेद है॥

प्रायश्चित्त किस दशा में वा किस को करना चाहिये सो दिखाते हैं कि "वेदादिशास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों के जो सन्ध्यादि कर्म विहित हैं उन को न करने वाला तथा निन्दित वा जिन के लिये वेदादि में निषेध किया है कि ऐसा काम न करना वैसे पापकर्म का आचरण करने वाला और इन्द्रियों के भोगविषय में लम्पट वा आसक्त ये तीन प्रकार के मनुष्य ही विशेष कर प्रायश्चित्त करने योग्य होते हैं। इस प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक तो विना इच्छा किये स्वभाव से वा अज्ञान से दुष्टकर्म का सेवन किया जाता अथवा कर्त्तव्य का त्याग

किया जाता है वहां द्वितीय ज्ञानपूर्वक किये की अपेक्षा प्रायश्चित्त थोड़ा किया जाता है। और जो इच्छापूर्वक वा जान कर बुरा काम किया जाता है उस में पूर्व की अपेक्षा शास्त्रकारों ने अधिक प्रायश्चित्त कहा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानपूर्वक किया कर्म जितना संस्कार को बिगाड़ने वाला होता है वैसा अज्ञान से किया कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि अज्ञान से किये काम का हृदयादि के साथ वैसा पूरा प्रवेश नहीं होता जैसा कि ज्ञान से किये का होता है। इसी कारण इन दोनों प्रकार के कर्मों में भिन्न२ प्रायश्चित्त कहा है सो ठीक ही मन्तव्य है॥

इस मानवधर्मशास्त्र के इसी ग्यारहवें अध्याय में एक २ ब्रह्महत्यादि महापातक वा उपपातक के अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त दिखाये हैं। उस में अधिकारियों का भेद देश का भेद और काल का भेद भी कारण हैं। सब अवस्थाओं, सब काल वा सब देश में सब लोग एक प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं कर सकते। ज्वान् बलवान् और स्वस्थ मनुष्य जैसा दुःख सह सकता है वैसा वृद्ध निर्बल और रोगी वा बालक नहीं सह सकता इस कारण इन के प्रायश्चित्त वा दण्ड में भेद होना चाहिये। लक्षाधीश मनुष्य पर एक सहस्र मुद्रा का दण्ड जितना उस को दुःखदायी होगा उतना ही सहस्र पति को दश मुद्रा के दण्ड से क्लेश हो जायगा और सर्वथा निर्धन दरिद्री मनुष्य को एक मुद्रा का दण्ड भी लक्षाधीश की अपेक्षा विशेष दुःखदायी होगा इसी प्रकार लोक में अनेक प्रकार के अधिकारी हैं उन की योग्यता देख कर जैसे राजदण्डादि की न्यूनाधिक व्यवस्था करनी चाहिये वैसे ही प्रायश्चित्त में भी जानो परन्तु यह काम सामयिक विद्वानों का है। सब देशों और सब कालों में भी सब काम नहीं हो सकते इस कारण भी प्रायश्चित्तों में भेद किया है और करना ही चाहिये। जहां ब्रह्महत्या वा सुरापानादि महापातकों में आत्मघातरूप बध दण्ड ही प्रायश्चित्त लिखा है वह उत्सर्ग है। कहीं किसी ब्रह्महत्या करने वाले के शरीर का बना रहना कई कारणों से अत्यन्त उपयोगी वा उचित है तो वहां बधदण्डरूप प्रायश्चित्त न कर करा के अन्य प्रकार का प्रायश्चित्त करा लेना चाहिये। इत्यादि प्रकार एक २ अपराध पर अनेक प्रायश्चित्त कहना सार्थक ही है॥

मनुष्य जैसे कर्म का सेवन करता है वैसी ही उस के हृदय में वासना सञ्चित होती हैं उन्हीं वासनाओं का नाम सञ्चित पाप वा पुण्य है अर्थात् पाप पुण्यों का आधार मन ही है। जैसे ओषधि के सेवन से रोगों की निवृत्ति हो सकती है

वैसे ही प्रायश्चित्त से निकृष्टसंस्काररूप पापों की निवृत्ति हो जाती है। अथवा जैसे दीपक से अन्धकार की, राग से द्वेष की, और विद्या से अज्ञान वा मोह की निवृत्ति होती है वैसे प्रायश्चित्त से पापों की निवृत्ति जानो। सो योगभाष्य में कहा भी है कि—"जिस जन्मान्तर में फल देने वाले सञ्चित कर्म का फल नियत नहीं कि अमुक देश, काल वा अवस्था में ऐसा फल अमुक पुरुष को अवश्य होगा। वैसे अनियतविपाककर्म की तीन दशा होती हैं। एक तो फलीभूत होने से उस सञ्चितकर्म का नाश हो जाना द्वितीय अपने साथी प्रधान पाप वा पुण्य के साथ मिल जाना और तृतीय नियत जिस का फल है ऐसे सञ्चितकर्म के साथ दबा रहना इन के उदाहरण ये हैं कि जैसे विद्याध्ययन कर लेने से जड़ता वा मूर्खता छूट जाती है विद्वत्ता और मूर्खता दोनों एक काल में एक शरीर में नहीं ठहर सकती वैसे जब प्रायश्चित्तादिरूप शुभ पुण्य सूर्य का उदय हृदय में होता है तब अन्धकाररूप पाप का तत्काल नाश हो जाता है। द्वितीय जैसे जौ आदि अन्न के साथ घास के दाने पड़े रहते हैं परन्तु जौ बोया जौ काटा जौ धरा है इत्यादि व्यवहार जौ का ही होता है उस में घास के दाने मिल कर पड़े रहने पर भी कुछ हानि नहीं करते इसी प्रकार थोड़ा पाप वा पुण्य अपने विरोधी पुण्य वा पाप के साथ मिला पड़ा रहता है कुछ हानि नहीं कर सकता केवल प्रधान का ही भोग वा व्यवहार होता है। तथा तृतीय प्रधान अपने विरोधी कर्म से तब तक दबा पड़ा रहे जब तक विरोधी की निर्बलता और उस की प्रबलता देश काल वस्तु भेद से न हो। इस प्रकार अनियतफल वाले दुष्टकर्म की ही विशेष कर प्रायश्चित्त से निवृत्ति हो सकती है। और जो जन्मान्तर में नियत फल देने वाला सञ्चितकर्म है उस की असाध्य रोग के तुल्य प्रायश्चित्त से भी निवृत्ति नहीं हो सकती। पर वहां भी प्रायश्चित्त करना इस कारण निष्फल नहीं कि जब शुभकर्मरूप प्रायश्चित्त से उस के मन का सन्तोष वा दृढ़ता होजाने से पाप का फल भोगने के समय में दुःख कम व्यापेगा। जैसे वही दुःख निर्बल और बलवान् को न्यूनाधिक व्यापता है। अथवा जैसे विद्वान् अविद्वान् दो पुरुषों पर एक ही दुःख आकर पड़े तो अविद्वान् की अपेक्षा विद्वान् बहुत कम क्लेशित होता है वैसे ही जिसने प्रायश्चित्त कर लिया है उसका मन प्रबल वा दृढ़ हो जाने से बड़े २ दुःखों को छोटा २ मानकर सहज में भोग कर पार हो जाता है॥

तथा पाप न छूटने में प्रायश्चित्त करना इस लिये भी सार्थक है कि पुण्यकर्म के साथी प्रायश्चित के संचित हो जाने से शुभफल होगा ऐसा विचार कर यथावसर सब को प्रायश्चित्त करना चाहिये यही धर्मशास्त्रकारों का आशय है। सो यह प्रायश्चित्त दण्डभोगरूप ही है। यदि कोई पुरुष किन्ही ऐसे नवीन दुष्टकर्मों को करे जिन का प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र में विशेष कुछ नहीं कहा तो वहां सामयिक विद्वानों को चाहिये कि देश काल और वस्तु के अनुकूल नवीन प्रायश्चित्त की कल्पना कर लेवें। इसी लिये इस मानवधर्मशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में कहा भी है कि "जिन के प्रायश्चित्त नहीं कहे गये ऐसे पापों से मुक्त होने के लिये शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की व्यवस्था बांध लेनी चाहिये"। इसी लिये बारहवें अध्याय में कहा है कि "दश वा तीन वेदवेत्ता सदाचारी धर्मात्मा विद्वानों की सभा जिस को निश्चित करे उस को प्रायश्चित्तादिरूप से सभी लोग कर्तव्य निश्चित धर्म मानें कोई भी उस का उल्लङ्घन न करे इत्यादि "और धर्मशास्त्रकारों ने जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त कहा हो वह भी विद्वनों की सभा की सम्मति से ही सब को सेवना चाहिये इस प्रकरण में यह कोई न समझे कि प्रायश्चित्त से पाप छूटने का सिद्धान्त खड़ा करने से विना भोग किये पाप छूट जायंगे तो "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्" यह सिद्धान्त कट जावे क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकार का दण्डभोग है यह लिख चुके हैं इस लिये कर्म का फल अवश्य भोगने पड़ता है यही सिद्धान्त ठीक है। जल और स्थलादिक में स्नान वा दर्शन करना मानवधर्मशास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु वह शास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध नवीन कल्पना है। यहां संक्षेप से प्रायश्चित्त के विषय में कहा गया है इस की विशेष व्याख्या भाष्य में देखनी चाहिये ॥

अथैकादशाध्यायप्रक्षिप्तसमीक्षणम् ॥

तत्रादौ चत्वारिंशत्तमं पद्यं प्रक्षिप्तम्। अल्पदक्षिणो यज्ञो मनुष्येण नैव कार्य इत्यस्य विधिवाक्यस्यार्थवादोऽयम्। स चासम्भवः सम्भवरूपेण चार्थवादेन भाव्यम्। नहि यज्ञो जडत्वादिन्द्रियादीन् हन्तुं समर्थोऽस्ति। यशःकीर्त्तिशब्दौ पर्य्यायवाचकौ तयोरुपादाने पुनरुक्तिदोषस्तु स्पष्ट एवास्ति। ऋत्विगादिभ्यो दक्षिणादानं च परिश्रमस्य

फलं तद्दानमन्तरा तस्य कार्यस्य पूर्तिस्तस्मात्फलप्राप्तिश्चासंभवास्ति। यदि कश्चित्सम्प्रति प्राड्विवाकादिभ्यस्तावद्द्रविणं न दद्याद्यावत्तेभ्यो राजद्वारि कार्यसाधनाय दातव्यं तदा तस्य तत्कार्यं सिध्येदिति न सम्भवति यादृश्या यावत्या च सामग्र्या येन कार्येण सिद्धेन भवितव्यम्। तयाऽपूर्णया तत्कार्यं कदापि सम्यक् सिद्धं न भवति तथैवाल्पदक्षिणो यज्ञोऽपि सम्यक् सुफलो न भवति। तस्मादल्पदक्षिणो यज्ञो नाचरणीय इत्यर्थवादः सम्यग्विज्ञेयः। तथा सति स न सम्भवति॥

तदग्रे द्विचत्वारिंशत्तमं त्रिचत्वारिंशत्तमं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तं प्रतीयते। शूद्रादिनिकृष्टेभ्योऽपि धनमुपादायाग्निहोत्रं सेवनीयम् नैतन्निन्द्यं कर्मास्ति किन्तु यदुक्तमूनविंशे पद्ये योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति। स कृत्वा प्लवमात्मानं सन्तारयति तावुभाविल्येतस्मात्तद्विरुध्यते। असाधुः शूद्रस्तस्माद्धनमादायाग्निहोत्रे साधुकर्मणि संयोजनं शुभकर्मास्ति। सर्वोपकारकं चाग्निहोत्रं महत्कर्म तत्र संयोज्यमानं वित्तं कथं निकृष्टं स्यात्?। यो यस्माद्वित्तादिकं याचनादिद्वारा ग्रहीत्वा कार्यं करोति तत्कार्यं तस्यैव भवति न तु द्रव्यदातुः। यदा च दाता स्वयं धनादिना भृत्यैरिव ऋत्विक्पुरोहितादिभिर्यज्ञाग्निहोत्रादिकं कार्यं कारयति। तदा ते शूद्राणामृत्विजो भवितुमर्हन्ति। अस्ति चेत्तत्र द्रव्यदातुरपि कश्चित्फलांशस्तर्हि का नो हानिः?। अन्यस्य सुखोदयमसहमाना एव मात्सर्यदोषग्रस्ता भवन्ति। शूद्रधनेन यज्ञेऽनुष्ठिते शूद्रस्यापि कल्याणमस्तु॥

तदग्रे ११८। ११९। १२१ एवं सङ्ख्याकानि त्रीणि पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति। यदाऽवकीर्णिनो लक्षणमेकविंशोत्तरशततमपद्ये-

ऽभिहितम्। पुनरसम्बद्धं तस्य व्रतं कथम्पुरस्तादेव स्यात् ?। अवकीर्णिनो वास्तविकं प्रायश्चित्तं च १२२।१२३ एतत्पद्यद्वय उक्तमेव सामान्यनियमास्तु सर्वत्र वक्ष्यमाणा एव ग्राह्यास्तत्र जपहोमादिकं यद्यत्कर्त्तव्यं तदुक्तमेव। काणं गर्दभं हत्वा तन्मांसस्य होमकरणं तु राक्षसनामेव कृत्यं वेदानुयायिभिस्तु सदैव त्याज्यम् ॥

अग्रे १७४ पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतीयते प्रायश्चित्ताभावात्। स्नानं नैत्यिकं कर्मास्ति तत्तु मनुष्येण कर्त्तव्यमेव सामान्यतया विहितमैथुनसेविन उक्तम्। स्नानं मैथुनिनः स्मृतमिति तदर्थं चेदं कथनं पुनरुक्तं यच्चाविहितं महन्निकृष्टं शास्त्रविरुद्धं पुंसिमैथुनादिकं तस्य च स्नानमात्रेण निष्कृतिरसम्भवा। अस्माच्च पूर्वपद्येऽयोनिष्विति पदेन पुंसिमैथुनादेः सम्भवितं प्रायश्चित्तमुक्तमेव। अतः सर्वथा प्रक्षिप्तमेवेदम् ॥

अग्रे १८२।१८३ पद्ये प्रक्षिप्ते स्तः। अत्राशौचस्य प्रकरणं नास्ति पूर्वं परं च प्रायश्चित्तस्य प्रकरणमस्ति। अशौचप्रकरणं च पञ्चमाध्यायेऽस्ति तत्र यथासम्भवं सर्वमुक्तमेव पतितानां जीवद्दशायामेव मृतवत्क्रियाकरणमपि सम्यङ् नास्ति पतिता यदि स्वेच्छया प्रायश्चित्तं नाचरन्ति तदा राजदण्डमर्हन्ति तेन राजदण्डेनापि ते चिह्निता भविष्यन्ति तथा चोक्तम्—

चिह्निता राजशासनैरिति। एवं प्रकरणविरुद्धत्वासम्भवत्वादिकारणादिदं पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति।

अग्रे २०६।२०७ इति पद्यद्वयमपि प्रक्षिप्तमेवास्ति। अस्यैवाशयस्य द्वे पद्ये चतुर्थाऽध्याये स्तस्तेऽपि मया क्षिप्त एवोक्ते। अयं चान्यायो यत्कश्चिद्गालिप्रदानस्य बधदण्डमादिशेत्। तद्वदत्राप्य-

तिस्वल्पस्य पापस्याधिकतरदण्डप्रतिपादनमयुक्तम्। अत्रैव २०८ पद्ये तस्यैवापराधस्य सम्भवं प्रायश्चित्तमुक्तं तस्मात्तत्पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्तीति ॥

तदग्रे २६१ पद्यं क्षिप्तम्प्रतीयते। असम्भवं कथनमिदं यदि सर्वहत्यानामृग्वेदाध्ययनमेव प्रायश्चित्तं स्यात्तदा ब्रह्महत्यादीनां बाहुल्येन पृथक् प्रायश्चित्तकल्पनं व्यर्थं स्यात्। असम्भवं च कथनमिदं तस्मात्प्रक्षिप्तमेव मन्तव्यम्। एवमस्मिन्नध्याये पञ्चषष्ट्युत्तरद्विशतपद्येषु द्वादश पद्यानि प्रक्षिप्तानि शिष्टानि त्रिपञ्चाशदुत्तरद्विशतपद्यानि शुद्धानि सन्तीति ॥

भाषार्थः—अब ग्यारहवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है। इस में पहिले चालीशवां श्लोक प्रक्षिप्त है। इस पद्य में बहुत धन के व्यय से पूरा होने योग्य यज्ञ का थोड़े धन से आरम्भ नहीं करना चाहिये इस विधिवाक्य का अर्थवाद कहा है। सो असम्भव है और अर्थवाद सम्भव होना चाहिये। क्योंकि यज्ञ कोई चेतन पदार्थ नहीं किन्तु जड़ है इस से इन्द्रियादि का नाश नहीं कर सकता और इस अर्थवाद में कहा यही है कि इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्त्ति, प्रजा-सन्तान और पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट कर देता है सो ठीक नहीं। यद्यपि यज्ञादि कर्मों में जो दक्षिणा ऋत्विजादि को दी जाती है वह परिश्रम का फल (मेहनताना) है उस का लेन देन नियमानुसार होना चाहिये। जैसे वकील आदि का मेहनताना उस काम और वकीलादि की योग्यतानुसार नियत होता है किन्तु यह दान में नहीं गिना जायगा। दान में दान लेने वाले से दाता का उपकार कुछ भी अपेक्षित नहीं किन्तु दक्षिणा में पूरा अपेक्षित है इसी से जहां २ ब्राह्मण को दान लेना बुरा कहा है उस से दक्षिणा का निषेध नहीं हो सकता। इसी कारण जिस कार्य में परिश्रम का फल ठीक नहीं दिया जाता उस में विघ्न होते हैं तथापि वह यज्ञादि कर्म जड़ होने से यजमान की कुछ हानि नहीं कर सकता किन्तु जिन को परिश्रम का फल ठीक नहीं मिलता वे ही विघ्न करते और कर सकते हैं। तथा उक्त श्लोक में यश और कीर्त्ति दोनों पर्यायवाचक पद एक साथ पढ़े हैं इस पुनरुक्ति दोष से भी

उक्त श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। यद्यपि इस पुनरुक्ति का समाधान कुल्लूकभट्ट ने किया है तथापि वह सन्तोषजनक नहीं। और जब ऋत्विज् आदि को दक्षिणा देना उन के परिश्रम का फल है तो उस के दिये विना उस कार्य की पूर्त्ति वा उस से फलप्राप्ति होना भी असम्भव है। यदि कोई वर्त्तमान समय में वकीलादि को इतना द्रव्य न देवे जितना उन को राजद्वार (अदालत) में कार्यसिद्ध होने के लिये देना चाहिये तो उस पुरुष का वह कार्यसिद्ध हो जावे यह सम्भव नहीं है। अर्थात् जैसी और जितनी सामग्री वा व्यय से जो कार्यसिद्ध हो सकता है तो उस अधूरे सामान वा व्यय से वह कार्य कदापि ठीक सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार अल्पदक्षिणा वाला यज्ञ भी ठीक सुफल नहीं होता है इस कारण अल्पदक्षिणा वाला यज्ञ नहीं करना चाहिये यही अर्थवाद ठीक है। और जब यह अर्थवाद ठीक है तो वह इन्द्रियादि के नाश का अर्थवाद विरुद्ध हो गया इसी से वह श्लोक प्रक्षिप्त है। इस के आगे ४२। ४३ दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों में शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करने वाले की निन्दा है। परन्तु ध्यान देकर देखा जावे तो धनाभाव में अग्निहोत्र न करने की अपेक्षा शूद्रादि नीच पुरुषों से भी धन लेकर अग्निहोत्र का सेवन करना चाहिये यह निन्दित काम नहीं किन्तु जो इस ग्यारहवें अध्याय के १९ उन्नीशवें श्लोक में कहा है कि "जो नीचों से धन लेकर और श्रेष्ठों को देता है वह अपने को पवित्र करके उन दोनों को दुःख के पार कर देता है" इस कथन से भी वह विरुद्ध है। अर्थात् शूद्र भी असाधु है उस से धन लेकर अग्निहोत्ररूप श्रेष्ठकर्म में लगाना शुभ काम है। अग्निहोत्र सब का उपकारक होने से महोत्तम कर्म है उस में लगाया धन क्यों नीच वा निन्दित काम हुआ। जो कोई जिस से मांगने आदि द्वारा धनादि को लेकर कार्य करता है वह काम उसी कर्त्ता का होता है किन्तु द्रव्यदाता का नहीं। और जब धनदाता पुरुष धनादि देकर भृत्यों के तुल्य पुरोहितादि से काम कराता है तब वे पुरोहितादि शूद्रों के ऋत्विज् हो सकते हैं। शूद्र से धन लेकर यज्ञ करने में यदि धनदाता शूद्र को भी कुछ थोड़ा फल प्राप्त हो तो हमारी क्या हानि है ?। अर्थात् अन्य की सुख सामग्री का उदय नहीं सह सकने वाले ही मत्सरता के दोष से दूषित होते हैं। शूद्र के धन से यज्ञ करने में शूद्र का भी कल्याण हो तो और भी अच्छा है कि एक काम से दो फल हुए॥

आगे ११८। ११९। १२१ ये तीन श्लोक प्रक्षिप्त हैं। अवकीर्णी का लक्षण ही जब एकसौ बीशवें श्लोक में कहा है फिर उस का असम्बद्ध व्रत करना पहिले से ही कैसे हो जावे ?। जिस ब्रह्मचारी ने जान कर व्यभिचार कर लिया हो उस को अवकीर्णी कहते हैं उस का मुख्य प्रायश्चित्त १२२।१२३ श्लोकों में ठीक २ कहा है। और होम करने आदि के सामान्य नियम तो आगे इसी ग्यारहवें अध्याय में कहे अनुसार मानने चाहिये वहां जो २ जप होमादि प्रायश्चित्त में कहे हैं वे ग्रहण करने चाहिये। काने गदहे को मार कर उस के मांस का होम करना तो राक्षसों का ही काम है उस का वेदमतानुयायियों को सदा ही त्याग कर देना चाहिये॥

आगे १७४ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है। क्योंकि स्नान करना नित्य का काम होने से प्रायश्चित्त नहीं है सो स्नान तो मनुष्य को करना ही चाहिये सामान्य कर शास्त्र की आज्ञानुसार अपनी स्त्री से मैथुन करने वाले को चाहिये कि मैथुन के पश्चात् स्नान करे तभी शुद्धि होती है इसी प्रयोजन से यदि यह भी श्लोक हो तो पुनरुक्त है। और जो महानीच शास्त्रविरुद्ध वा जिस के लिये शास्त्र में विधान नहीं ऐसा पुंसिमैथुनादि दुष्टकर्म है उस की स्नान कर लेने मात्र से शुद्धि नहीं हो सकती। और इस १७४ श्लोक से पूर्व १७३ श्लोक में अयोनि पद करके पुंसिमैथुनादि का सम्भव प्रायश्चित्त कहा ही है इस से वह श्लोक प्रक्षिप्त ही है। आगे १८२। १८३ दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यहां शुद्धि करने वा मानने का प्रकरण नहीं है किन्तु आगे और पीछे केवल प्रायश्चित्त का प्रकरण है। शुद्धिप्रकरण पञ्चमाध्याय में है वहां यथासम्भव सब कहा ही है। पतितों की जीवितदशा में ही मरे के तुल्य क्रिया करना ठीक नहीं क्योंकि महापातकी आदि पतित लोग यदि अपनी इच्छा से प्रायश्चित्त का आचरण नहीं करते तो वे राजदण्ड भोगने योग्य हैं अर्थात् राजा उन को बलात्कार दण्ड देवे उस राजदण्ड से जब वे चिह्नयुक्त हो जावेंगे तो उन को मरा समझना नहीं हो सकता सो कहा भी है कि "राजा के शासन से दण्ड के चिह्न को प्राप्त होकर सर्वत्र घूमा करें" इस प्रकरणविरुद्ध और असम्भव होने आदि कारण से ये उक्त दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। आगे २०६ २०७ ये दो पद्य प्रक्षिप्त हैं इसी आशय के दो श्लोक चतुर्थाध्याय में हैं उन को भी हम ने प्रक्षिप्त ही ठहराया है। और यह अन्याय है कि जो किसी के गाली देने पर मारडालने का दण्ड दिलाना वैसे यहां भी अतिसूक्ष्म अपराध का अधिक दण्ड कहा है। इसी अध्याय में २०८ श्लोक में उसी अपराध का सम्भव प्रायश्चित्त

कहा है। इस लिये उक्त दोनों पद्य प्रक्षिप्त हैं। आगे २६१ पद्य प्रक्षिप्त है यह विषय जो इस में कहा है असम्भव है। यदि सब हत्या का ऋग्वेद पढ़नामात्र प्रायश्चित्त हो जावे तो ब्रह्महत्यादि महापातकों के अधिक कर बड़े २ पृथक् प्रायश्चित्त कहना व्यर्थ हो जावे। और यह कहना असम्भव वा असंगत भी है कि वेद पढ़ लेने से सब पाप छूट जावें। इस लिये उक्त पद्य प्रक्षिप्त ही है। इस प्रकार इस ग्यारहवें अध्याय के दोसौ पैंसठ श्लोकों से १२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष दो सौ तेपन श्लोक शुद्ध जानने चाहिये ॥

अथ कर्मफलविचारः समासत उच्यते–

कर्माणि शुभाशुभानि धर्माधर्मसंचयहेतुकानि शास्त्रेषु कर्त्तव्यत्वेन विहितानि निषिद्धानि वा तेषां फलान्यपिताहृशान्येव शुभाशुभादिरूपाणि भवन्ति। तेषां च कर्मणां त्रैविध्यं मनोवाग्देहसम्भवात्। मानसकर्मणां फलं मनसा वाचिकानां वाचा कायिकानां च कायेनैव दृष्टजन्मन्यदृष्टजन्मनि वा मनुष्यो भुङ्क्ते। ससाधनस्य साधिष्ठानस्य च क्षेत्रज्ञस्य कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रेक्षावद्भिरभ्युपगम्यते। केवलस्य चात्मनः भोक्तृत्वं प्रतिषिध्यते। नाशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति। न च केवलानां शरीरादीनामधिष्ठानत्वं साधनत्वं वास्ति। शरीरं करणानि चादृष्टजन्मनि तारतम्येन सुखदुःखसाधनरूपाणि कर्मभेदादेवोत्पद्यन्ते। धर्मबाहुल्येन स्वर्गाख्यं विशिष्टं सुखमुपलभतेऽधर्मस्याधिकतया सेवनेन नरकाख्यं विशिष्टं दुःखमुपलभते। कर्मभिरेव प्राणिदेहेषु प्रधानास्सत्त्वादिगुणास्तदवयवास्तेषामवान्तरभेदाश्च प्रतिशरीरं भिन्नाभिन्ना एवोपलभ्यन्ते। तथा चोक्तम्–

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥

कर्मभेदादेवोच्चावचेष्वधिकारेषु निकृष्टोत्तमयोनिषु च सलिङ्गशरीराः क्षेत्रज्ञा आत्मानः प्रतिक्षणं भ्रमन्ति। अतएवोक्तम्–

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव कर्मणा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मन इति ॥

यानियानि शुभाऽशुभानि कर्माणि मनुष्येण दृष्टजन्मनि सेव्यन्ते तेषां यदि तस्मिन्नेव शरीरे फलं न भुज्यते तदा तद्विपाको जात्यायुर्भोगा अदृष्टजन्मनि भवन्ति तेषामेव जात्यादीनां फलरूपाणां विशिष्टो विस्तारः स्वानुभवेन मन्वादिमहर्षिभिरुक्तः । महान्तो बुद्धिपारङ्गता वाचस्पतयः पण्डिता ज्ञानचक्षुषा वर्त्तमानदेहेषु कानिचिल्लक्षणानि दृष्ट्वाऽनुमिन्वन्ति—यदयं जीवात्माऽतः पूर्वजन्मन्यमुकयोनावीदृशममुकं कर्माचरितवान् तस्येदं फलं जात्यादिरूपं सम्प्रति प्राप्तम् । योगिन एवैवम्भूतान्विषयान्याथातथ्येनानुभवितुमर्हन्ति । कर्माणि कानि चिन्नित्यानि ब्रह्मयज्ञादीन्यध्यापनादीनि च गर्भाधानादीनि च नैमित्तिकानि । तत्र नैत्यिककर्मणा क्षुन्निवृत्त्युपायवत्फलमपि नित्यमेवास्ति । नैमित्तिकगर्भाधानादिकर्मणां पुत्राद्युत्पत्तिर्नैमित्तिकमेव फलमनुसन्धेयम् । उत्तममध्यमनिकृष्टानां त्रिविधकर्मणां त्रिविधमेव फलम् । उत्तमकोटिस्थस्य कर्मणः स्वर्गफलं निकृष्टस्य नरकफलम् । मध्यमस्य च मध्यममेव सुखदुःखमिश्रितं फलं रजोगुणप्रायं भवति । तमोगुणप्रधानाः कृमिकीटादयो नारकाः सत्त्वगुणस्थाश्च प्रायशः स्वर्गीयाः प्राणिनो बोद्धव्याः । केचिज्जना नरकस्वर्गौ विलक्षणौ परोक्षावदृश्यावेव स्त इति मन्यन्ते वयं च तेषां परोक्षत्वमनिवारयन्तः प्रत्यक्षत्वमप्यभ्युपगच्छामः । यथा बहवो लोकास्तेषां विशिष्टस्थानानि च परोक्षाणि सन्ति तत्र सुखविशिष्टहेतूनि स्वर्गस्थानानि दुःखविशेषहेतूनि च नरकाणि सन्ति । तथा प्रत्यक्षभूतायां भूमावपि स्वर्गनरकस्थानानि सन्ति स्वर्गरूपसु-

स्वानुभवकाः सर्वसुखभोगसाधनसम्पत्तिसम्पन्नेषु स्थानेषु निवसन्तो विद्याबुद्धियुताः पुरुषा देवा इत्युच्यन्ते । अतएवोक्तम्—

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥

एतेन ज्ञातव्यम्—यत्सात्त्विकमध्यावस्थायां वर्त्तमाना एव देवादयः । मुक्तिरपि कर्मभिरेव निष्पद्यते तदर्थमपि मनुष्येण फलभोगोत्कण्ठाराहित्येन धर्मएव सेवनीयः । यद्यपि तत्र दुःखप्रतियोगिनः कस्यचित्सुखस्योपभोगो नास्ति तथापि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगस्य सत्त्वान्मुक्तस्यात्यन्तं सुखमिति वक्तुं शक्यते । यथा वस्त्रादेर्मलनिवृत्तिः स्वच्छत्वसम्पत्तिश्च प्रक्षालनादिरूपस्य कर्मण एव फलमिति शिष्टैरभ्युपगम्यते । तथैवान्तःकरणस्थदुष्कृतवासनानां तज्जन्यस्य दुःखस्य च विशिष्टा निवृत्तिरपि मानवादिधर्मशास्त्रोक्तस्य वर्णाश्रमधर्मस्य निर्व्याजतया निष्कामतया चानुष्ठानेनैव सम्भवति । इमामेवानतिशयामवस्थां ध्यायिनो मुक्तिमाचक्षते । तथा चोक्तमस्यैव धर्मशास्त्रस्य द्वादशाध्याये—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥१॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥२॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥३॥

एवं सति मुक्तेः कर्मफलत्वं निराकुर्वाणाः प्रत्युक्ता भवन्ति । वेदाभ्यासे च यत्नवानिति वदता तद्दशोपयोगिनां कर्मणां कर्त्तव्यत्वं

सूच्यते । इदञ्च कर्मफलविवेचनं संक्षेपेणैवोक्तम् । ये विषया म-
योपोद्घातारम्भ उद्दिष्टास्तेषां तेनैव क्रमेण संक्षेपतो विचारः कृत
इदानीमुपोद्घातः समाप्यते। द्वादशाध्याये च किमपि पद्यं प्रक्षि-
प्तं न दृश्यते । अतोऽग्रे प्रतिज्ञानुसारेण मानवधर्मशास्त्रस्य भाष्यं
विधास्यामः ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से कर्मफलों का विचार किया जाता है । धर्म वा अधर्म का सञ्चय कराने वाले शास्त्रों में कर्त्तव्य बुद्धि से विधान किये वा छोड़ने के लिये निषिद्ध किये शुभ अशुभ अच्छे बुरे दो प्रकार के कर्म हैं उन के फल भी वैसे ही शुभ अशुभरूप होते हैं । वे कर्म मन वाणी और शरीर से उत्पन्न होने से तीन प्रकार के हैं । मानस कर्मों का फल मन से वाचिकों का वाणी से और शरीर से होने वाले कर्मों का फल शरीर से ही इस जन्म में वा जन्मान्तर में मनुष्य भोगता है । इन्द्रियादि साधन और भोग के आधार शरीर के साथ रहने पर ही जीवात्मा का कर्त्ता भोक्ता होना विद्वान् लोग स्वीकार करते हैं और इसी से केवल आत्मा के भोक्ता होने का निषेध भी करते हैं । वात्स्यायन ऋषि ने न्यायभाष्य में लिखा है कि " शरीररहित आत्मा को कुछ भोग नहीं होता " और केवल शरीरादि भी सुखदुःखादि के साधन नहीं हो सकते अर्थात् इन्द्रिय और शरीर के द्वारा मनुष्य को सुख दुःख का भोग प्राप्त होता है । जब धर्म का अधिक सेवन करता है तो सर्वोत्तम स्वर्गनामक सुख को प्राप्त होता और अधर्म के अधिक सेवन से नरकनामक विशेष दुःख पाता है । कर्मों से ही प्राणियों के शरीरों में प्रधान सत्त्वादि गुण और उन के अवयवरूप अवान्तर भेद प्रत्येक शरीर में भिन्न २ प्रतीत होते हैं इसी लिये मनु के १२ अध्याय में कहा है कि "ज्ञानरूप सत्त्वगुण अज्ञानस्वरूप तमोगुण और रागद्वेषरूप रजोगुण माना है । अर्थात् इस शरीर में कर्मभेद से न्यूनाधिकभाव को प्राप्त हुए सत्त्वादिगुण व्याप्त रहते हैं ।" कर्म के भेद से ही ऊंच नीच अधिकारों और ऊंच नीच योनियों में लिङ्गशरीर के सहित जीवात्मा प्रतिक्षण भ्रमते रहते हैं। इसी लिये मनु० अ० १२ में कहा है कि "इस जीवात्मा की अपने कर्म से ही अनेक प्रकार की दशा संसार में देख तथा धर्म और अधर्म के मेल को छोड़ कर केवल धर्म में मन को धारण करे" जिन २ शुभ वा अशुभ कर्मों का सेवन मनुष्य वर्त्तमान जन्म में करता है ।

उन कर्मों का यदि उसी शरीर में फलभोग नहीं होता तो उस को जाति कि कैसे कुल में जन्म होना, अवस्था कितनी और कैसा भोग हो यह तीन प्रकार का फल जन्मान्तर में होता है। इन्हीं फलरूप जाति आदि का विशेष विस्तार मनु आदि महर्षियों ने अपने अनुभव से किया है कि ऐसा २ कर्म करने से जन्मान्तर में अमुक २ जाति वा योनि में जन्म होता है। सो यह बुद्धि के पार पहुंचे ज्ञान से देखने वाले लोकोत्तर पण्डित लोगों को वर्त्तमान प्रत्यक्ष शरीरों में किन्हीं लक्षण वा चिन्हों को देख कर भूतपूर्व उन के कारणों का यथार्थ अनुमान कर लेना कुछ आश्चर्य नहीं है कि यह जीवात्मा इस से पूर्वजन्म में अमुक योनि वा जाति में रह कर अमुक कर्म करता रहा उस कर्म का यह जाति आदि रूप इस समय फल प्राप्त हुआ है। ऐसे परोक्ष विषयों का ठीक २ अनुभव योगी लोग ही कर सकते हैं। कोई सन्ध्या वा पढ़ाने आदि ब्राह्मणादि के नित्य कर्म हैं और कोई गर्भाधानादि नैमित्तिक हैं। भोजन से नित्य क्षुधा की निवृत्ति के समान नित्य कर्म का फल भी नित्य २ ही प्राप्त होता जाता है और नैमित्तिक गर्भाधानादि कर्मों का पुत्रोत्पत्ति आदि नैमित्तिक ही फल होता है। उत्तम मध्यम निकृष्ट इन तीन प्रकार के कर्मों का फल भी वैसा ही त्रिविध होता है। उत्तम कोटि के कर्मों का फल स्वर्गनामक, निकृष्ट का नरक और मध्यम का सुखदुःख मिला हुआ रजोगुणसम्बन्धी फल होता है। तमोगुण में पड़ने वाले कृमिकीटादि नीचकर्मों के नरक फल गामी होते और सत्त्वगुणी प्राणियों को प्रायः स्वर्गसुख के भागी वा निवासी जानना चाहिये ॥

कोई लोग संसारी प्रत्यक्षदशा से विलक्षण अदृश्य और परोक्ष नरक स्वर्ग हैं अर्थात् किसी निज स्थान का नाम नरक और स्वर्ग है ऐसा मानते हैं। हम लोग उन नरक स्वर्गों के परोक्ष होने का खण्डन न करके प्रत्यक्ष भी नरक स्वर्गों का ग्रहण करते हैं। वैसे बहुत लोक और उन के विशेष स्थान परोक्ष हैं वहां सुखविशेष के हेतु स्वर्गस्थान और दुःख विशेष के हेतु नरकस्थान भी हैं कि जैसे पृथिवी पर स्वर्गनाम सुख विशेष के हेतु और नरकनाम दुःख विशेष के भोगस्थान प्रत्यक्ष दीखते हैं इसी प्रकार अन्य सब परोक्ष लोकलोकान्तरों में भी स्वर्ग नरक होना बन सकता है परन्तु यह नहीं हो सकता कि स्वर्ग नरक किसी एक ही स्थल में हों और सर्वत्र न हों। जैसे सम्प्रति प्रत्येक नगर वा जिलों में बन्धागार (जाहिलखाना) बनाये जाते हैं वैसे ही सुखदुःख की सामग्री सर्वत्र जानो। सब सुखों के भोगों की सामग्री जहां विद्यमान है ऐसे स्थानों में बसते

स्वर्गरूप सुख का अनुभव करने वाले विद्याबुद्धिसम्पन्नपुरुष देव कहाते हैं। इसी से कहा है कि यज्ञ करने वा वेद पढ़ने वाले ज्ञानी लोग जो कि सत्वगुण की मध्यावस्था में रहते हैं वे ही देवता हैं। मुक्ति भी कर्मों से ही सिद्ध होती है इस से मुक्ति पाने के लिये भी मनुष्य को फलभोग की आशा छोड़ कर धर्म का ही सेवन करना चाहिये। फल प्राप्ति की इच्छा छोड़ कर सेवन किये कर्मों से उत्पन्न होने पर भी मुक्ति कर्मफल से पृथक् नहीं रह सकती क्योंकि अकस्मात् भी कर्मों का फल मिलता है चाहना का बन्धन मानें तो बुरे कर्म के दुःखफल की चाहना कोई नहीं रखता। यद्यपि मुक्ति में दुःख के विरोधी किसी सुख का भोग नहीं है तो भी दुःख के अभाव का नाम सुख होने से मुक्त को अत्यन्त सुख होना कह सकते हैं। जैसे प्रक्षालन धोने आदि कर्म से वस्त्रादि के मल की निवृत्ति और निर्मलता की प्राप्ति कर्म का ही फल है ऐसा शिष्ट लोग मानते हैं। वैसे ही अन्तःकरण में रहने वाली पाप की वासना और उन से होने वाले दुःख की विशेष निवृत्ति भी मनु आदि धर्मशास्त्र में कहे वर्णाश्रम धर्म का बहुाना और कामना को छोड़ कर सेवन करने से हो सकती है। इसी सर्वोत्तम मनुष्य की दशा को विचारशील मुक्ति कहते हैं। सो इसी धर्मशास्त्र के बारहवें अध्याय में कहा है कि "वेदोक्त कर्म दो प्रकार का है—संसार में वा जन्मान्तर में जिस के फल की इच्छा हो जिस से देवाधिकार प्राप्त हो सके वह प्रवृत्त कर्म और द्वितीय केवल निष्काम ज्ञानपूर्वक ईश्वर की उपासनादि कर्म निवृत्त कहाता है इसी का फल मुक्ति है" ऐसा होने पर जो लोग मुक्ति को कर्म का फल नहीं मानते उन का उत्तर आ जाता है। वेद का अभ्यास करने में यत्न करता रहे इस कथन से उस संन्यासदशा के उपयोगी कर्मों के करने का विधान और अतिवृद्ध होने वा गृहादि के न होने से अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग सूचित किया है। यहां कर्मफलों का विवेचन संक्षेप से किया गया और विद्वानों को थोड़ा कथन ही बहुत होता है। जो विषय हम ने उपोद्घात के आरम्भ में उद्देशमात्र गिनाये हैं उन सब का क्रमानुसार संक्षेप से विचार किया अब उपोद्घात समाप्त किया जाता है। बारहवें अध्याय में प्रक्षिप्त श्लोक कोई नहीं दीखता। इस भूमिका में भ्रम से वा छपने आदि के दोष से कोई अशुद्धि रह गयीं थी उन का शुद्धिपत्र बनादिया है वहां से शोध लेना चाहिये। अब आगे प्रतिज्ञा के अनुसार मानवधर्मशास्त्र के भाष्य का प्रारम्भ किया जायगा॥

इति भीमसेनशर्म्मकृतो मानवधर्ममीमांसाभाष्यस्योपोद्घातः समाप्तः॥

अथ मानवधर्ममीमांसोपोद्घातस्यशुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पं०	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१४	१७	वेवरसाहव:	व्यूलरसाहव:
„	२५	माविभवति	माविर्भवति
१५	२	अत्तुर्वेद	अतुर्वेद
१७	३	निष्ठम् ।	निष्टम् ।
१९	१५	वेवर	व्यूलर
„	२१	वेवर	व्यूलर
२०	१६	प्रका	प्रक
२५	६	दिखा	दिखाया
२७	२३	पुस्तकाकृ०	पद्याकृतिं०
२८	१६	पुस्तकाकारेण	पद्यकारेण
२८	२०	प्रक्षिप्र	प्रक्षिप्त
३२	१७	ससय	समय
३३	११	आवश्ययकता	आवश्यकता
३८	११	वैदिङ्कर्म	वैदिकङ्कर्म
३८	२१	कर्तु	कर्त्तुं
४६	९	क्वचिञ्	क्वचिज्
५०	२	तिरोहित	तिरोहित हो
५५	१४	प्रजयते	प्रसज्यते
६३	२१	चिद्रानृशं	चिदानृशं
७७	९	घर्म	धर्म
„	२०	दम्म	दम्भ
७३	२१	इन्द्रियें	इन्द्रियों
८१	७	नाछष्टे	नाचष्टे
८६	८	जानाना	जानना
८७	७	विरुद्व	विरुद्ध
८८	१५	व्यलर	व्यूलर
९१	२	मित्यं	मित्थं
१०३	१९	शुश्रुत	सुश्रुत
„	२५		„
१०९	८	शब्दस्य स्पर्श ।	शब्दस्पर्श
११०	१२	मवयविये	मवयवविये
११७	१९	रखणद्वयेन	रखण्डद्वयेन
११८	१४	मापन्ना	मापन्नास्त्री
११८	१८	माणब्दा	माणशब्दा
१२०	८	क्यशते	शक्यते
१२२	२२	कियेउ नमें	किये उन में
१२९	२४	सकसा	सकता
१३१	२२	मानमर्थे	मानमर्थं
१४०	७	पुरुषेणे	पुरुषेणै
१४०	१६	नेकामि:	नेकाभि:
१४३	२१	सादृश	तादृश
१४६	१९	द्विचन	द्विवचन
१४६	२०	होती है	होता है
१५०	३	घोढ़े	घोड़े
१५३	५	श्राद्वभुक्त	श्राद्धंभुक्त
१५४	१६	सेव्यते	सेव्यन्ते
१५९	२९	केराने	कराने
१६२	११	अन्तत्य	अत्यन्त
१६४	२	श्राद्व	श्राद्ध
१६६	५	ब्राह्यणा	ब्राह्मणा
„	८	वृवृत्तं	प्रवृत्तं
१६८	३	नामां	नां
„	९	ध्यादि	ध्यायादि
१७२	८	तच्छिंष्याः	तच्छिष्याः

मानवधर्ममीमांसोपोद्घातस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पृ	पं०	अशुद्धम्।	शुद्धम्।
१७३	७	प्रत्याप्यते	प्रत्याय्यते
१८२	२४	सञ्जित	सञ्चित
„	„	वर्त्तनान	वर्त्तमान
१८९	२०	माम्नाते	माम्नास्तै
„	२३	सम्भन्ति	सम्भवन्ति
२०३	५	चाहिजे	चाहिये
२०८	५	दुःखसागर	दुःखसागर में
२१२	८	चिनन्त	चिन्तन
२१२	१८	आनन्दस्वमूप	आनन्दस्वरूप
२१३	८	हेतुं	होतुम्
२१८	३	षष्ठ्यु	षट्यु
२२४	१२	आहारा	आहाराः
२२६	१३	गुणो	गुणौ
२५३	२९	वस्त्राहि	वस्त्रादि
२५५	२२	पद्यात्रयो	पद्यात्त्रयो
२५६	२१	निषिद्धि।	निषिद्धम्।
२५८	१२	दुर्षित	दूर्षित
२६८	१	वानस्थ	वानप्रस्थ

पृ०	पं०	अशुद्धम्।	शुद्धम्।
२७१	४	धर्मा-	धर्मात्मा
२७४	१	पद्यपि	यद्यपि
„	१५	रर्पिताः	दर्पिताः
„	१६	ता	तां
२७५	७	समत्य	समीत्य
२८४	६	त्तितीयं	द्वितीयम्
२८९	२४	सापिण्ड	सपिण्ड
३००	१८	तिधिना	तिथिना
३०७	२६	मन्युः	मनुः
३१०	१२	शुश्रुता	सुश्रुता
३११	२२	युधिरष्ठिर	युधिष्ठिर
३१४	११	प्रचेति	प्रचैति
३१६	१४	अवान्तर्भे	अवान्तरभे
३४०	२७	मनु से का	मनु का
३४४	८	शटुत्तर	शदुत्तर
३५५	५	राक्षस	राक्षसा
३६३	२९	(जाहिलखाना)	(जेलखाना)

सूचना ॥

सब वेदमत के मानने वाले विचारशील महाशयों को ध्यान देना चाहिये कि आज कल वेदानुयायियों के धर्म और धर्मशास्त्रों के ऊपर महान् आपत्तिकाल आगया है इस वैदिकसिद्धान्त के अनेक प्रबल शत्रु खड़े हो गये हैं जिन से बचाकर इस वैदिकसिद्धान्त को हरा भरा रखना आप लोगों का काम है । जब इस भारत में वैदिकसिद्धान्त का शत्रुरूप कोई प्रबल अन्य द्वीपादि का वा बौद्धादि मत नहीं था तब वेदमत निर्विवाद माना जाता था परन्तु अब वह समय नहीं रहा अब हम को कारणबाद देकर वेद और धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त को प्रबल ठहराने की आवश्यकता पड़ गई हैं इसी लिये मैं ने मनुस्मृति भगवद्गीता और उपनिषदादि पुस्तकों पर भाष्य करना प्रारम्भ किया है जो लोग इन भाष्यादि को देखें गे वे बौद्ध वा ईसाई आदि मतों से न दब कर अर्थात् उन्हीं को परास्त करके वैदिकसिद्धान्त की निस्सन्देह रक्षा कर सकें गे । इसी लिये निम्नलिखित प्रकार से उन पुस्तकों के मूल्य आदि का ब्योरा देख कर पुस्तक मंगाने चाहिये । जो महाशय पुस्तकादि के विषय में कुछ अधिक पूछना चाहें तत्काल लिख कर पूछ लें शीघ्र ही उत्तर दिया जाता है

अथ वैदिकसिद्धान्त के पुस्तक ॥

वाजसनेय (ईश) ≡) तलवकार (केन) ।) कठ १) प्रश्न ।।।) मुण्डक ।।।-) माण्डूक्य ।) तैत्तिरीयोपनिषद् १) ये सात उपनिषद् संस्कृतभाषावृत्ति सहित इकट्ठे लेने वालों को ३।।) ही में दिये जायं गे । डाकव्यय पु० ७ का ≡) ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य छः उपनिषद् मूल =) सद्विचारनिर्णय (व्यंकटगिरि के उत्तर) =) ब्राह्ममतपरीक्षा (ब्राह्मसमाजियों के उत्तर) ≡) तीर्थविषय ≡) विवाहव्यवस्था ।) द्वैताद्वैतसंबाद ≡) अष्टाध्यायीमूल अधिकारादिसंकेतसहित अर्थात् प्रकरणबद्ध ।) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ।) देवनागरी की वर्णमाला)। तथा एक रुपये में १०० सौ प्रति । आर्यसिद्धान्त १ । २ । ३ । ४ भाग ४८ अङ्क जिल्दसहित ३) आर्यसिद्धान्त प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ भाग ४८ अङ्क विना जिल्द २।।।) यज्ञोपवीतशङ्कासमाधिः -) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका २) जो एक २ मँगावें गे उन को आर्यसिद्धान्त मनुभूमिका तथा उपनिषद्छोड़ के प्रत्येक पर)।। डाकव्यय देना होगा ॥

आर्यसिद्धान्त अर्थात् वैदिकमतप्रचारक २० पृष्ठ ८ पेजा रायल मासिक पत्र वार्षिकमूल्य १।) गीताभाष्य संस्कृत तथा भाषा टीका युक्त अङ्क ३२ पृष्ठ अठपेजा

छपाई मासिकपत्र वार्षिक मूल्य २) इकट्ठे के छः रुपये देने से पूराभाष्य मिलेगा। मनुस्मृतिभाष्य ३२ पृष्ठ अठपेजा रायल मासिकपत्र वार्षिकमूल्य डाकव्ययसहित २॥)

मन्त्रमञ्जीत)। कुमारीभूषण -) शास्त्रार्थखुर्जा -)॥ सत्यधर्मरत्नमाला -)॥ आर्यसमाजपरिचय ।) स्वधर्मरक्षा ।) वेदान्तप्रदीप ॥) छन्दरत्नावली ≡) सदुपदेश)। सर्वदेशहितैषी के गुणों पर एक व्याख्यान =) संस्कृतप्रदेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पुस्तक)॥। संस्कृत का द्वितीय पुस्तक -)॥ इन पुस्तकों का डाक महसूल पृथक् ग्राहक को देना होगा ॥

ब्रह्मचर्य्यदर्पण -) नारीसुदशाप्रवर्त्तक भागचारो १=)॥ गोरक्षावेदीपिका =) आर्य्यतत्त्वदर्पण =) करपल्लवी -)

ये सब पुस्तक बाहर के हैं इन पर कमीशन नहीं मिलेगा ॥

विशेष नियम—

जो महाशय मासिक पुस्तक प्रक्रिया से भिन्न स्वतन्त्र बिकने वाले उपनिषद् आदि पुस्तकों को ६—१० रुपये तक के लेंगे उन को षष्ठांश कमीशन मिलेगा। १०—२५ का पंचमांश, २५—५० तक पर चतुर्थांश और ५०—१०० के भीतर तृतीयांश तथा पूरे १०० से आगे पुस्तक रोक दाम पर लेने से आधे मूल्य पर दिये जावें गे। इन सब कमीशन की दशाओं में दाम रोक (नगद) लिया जायगा। और सब डाकव्यय ग्राहक को देना होगा। जिन की इच्छा हो मँगावें पर इस दशा में सात उपनिषदों के समुदाय पर चतुर्थांश कम ३॥) न होगा ॥

मगाने का पता— भीमसेन शर्मा

सरस्वतीयन्त्रालय भंडारीपुल

प्रयाग